ओ३म्

आर्यमर्यादा

"यजुर्वेद अध्याय ३२ का स्वाध्याय"

वेदमन्त्रार्थद्रष्टा परमयोगी पूर्णतत्त्वज्ञ महावैज्ञानिक

सम्पादक—
जगदेवसिंह सिद्धान्ती शास्त्री

वर्ष ४
अंक ३८

ओ३म्

सम्पादकीय तथा प्रकाशकीय निवेदन

स्वाध्याय प्रेमी मान्य पाठक महानुभावों की सेवा में पूर्व प्रतिज्ञानुसार "यजुर्वेद के ३२वें अध्याय का स्वाध्याय" श्रावणी के विशेषाङ्क रूप में प्रकाशित तथा प्रचारित किया गया है। इसमें महर्षि दयानन्द का संस्कृत तथा आर्यभाषा भाष्य अविकल रूप में दिया है। साथ ही अनेक पूज्य आर्यविद्वानों की इसी अध्याय पर बहुमूल्य टिप्पणियां भी प्रकाशित की गई हैं और स्वाध्याय के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य वैदिक सिद्धातों और आर्षमन्तव्यों का संग्रह भी किया है। इस प्रकार अपने अल्पसामर्थ्य के आधार का इस स्वाध्याय अंक में उत्तम बनाने का यत्न किया है। आशा है वेद के स्वाध्याय में रुचि रखने वाले आर्य महानुभाव इससे यथेष्ट लाभ उठाकर कृतार्थ करेंगे।

निवेदक

जगदेवसिंह सिद्धान्ती शास्त्री

श्रावणी २०२९ वि०, २० अगस्त १९७२ ई०

दयानन्दाब्द १४८, सृष्टि सं० १९६०८५३०७२

891.201105
JAG-A

॥ ओ३म् ॥ 496

ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य के अध्ययन और मनन से पूर्व जानने योग्य कुछ आर्ष मन्तव्य ॥

१. वेदों का प्रकाश

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
यजु० ४०.८ ॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीव रूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

(प्रश्न) परमेश्वर को आप निराकार मानते हो वा साकार? (उत्तर) निराकार मानते हैं। (प्रश्न) जब निराकार है तो वेद विद्या का उपदेश विना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादि स्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। (उत्तर) परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेद विद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न के बोध होने के लिये किया जाता है कुछ अपने लिये नहीं क्योंकि मुख जिह्वा के व्यापार करे विना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है कानों को अंगुलियों से मून्द के देखो सुनो कि विना मुख जिह्वा ताल्वादि स्थानों के कैसे कैसे शब्द हो रहे हैं, वैसे जीवों को अन्तर्यामी रूप से उपदेश किया है। किन्तु केवल दूसरों को समझाने के लिये उच्चारण

करने की आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरों को सुनाता है इसलिये ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता।

—सत्यार्थप्रकाश ७ म समुल्लास

२. परमेश्वर किन को वेद प्राप्त कराता है

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥

यजु० २.१२॥

भावार्थ :—ईश्वर ने सृष्टि के आदि में दिव्य गुण वाले अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा चारों वेदों के उपदेश से सब मनुष्यों के लिये विद्या प्राप्ति से सुख के लिये यज्ञ के अनुष्ठान के विधि का उपदेश किया है। —ऋषि दयानन्द भाष्य॥

३. उन चार ऋषियों के हृदयों में वेदों का प्रकाश

(प्रश्न) ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती? (उत्तर) न्यायकारी। (प्रश्न) जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सबके हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया? क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है। (उत्तर) इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है, क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उसको वैसा ही फल दिया जाय। अब जानना चाहिये कि चार पुरुषों का ऐसा पूर्व पुण्य था कि उनके हृदयों में वेदों का प्रकाश किया गया। (प्रश्न) वे चार पुरुष तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुये थे उनका पूर्व पुण्य कहां से आया?

(उत्तर) जीव, जीव के कर्म और स्थूल कार्यजगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारण जगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्य जगत् प्रवाह से अनादि हैं। —ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका वेदोत्पत्ति विषयः ।। सार यह है कि अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा वे चार ऋषि मन्त्र द्रष्टा थे।

४. सर्वज्ञ ईश्वर ही सर्वज्ञान युक्त शास्त्र बनाता है

(प्रश्न) क्या यह पुस्तक भी नित्य है ? (उत्तर) नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्र और स्याही का बना है वह नित्य कैसे हो सकता है ? किन्तु "जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे नित्य हैं।" (प्रश्न) ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे ? (उत्तर) ज्ञान ज्ञेय के विना नहीं होता, गायत्र्यादि छन्द षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञान पूर्वक गायत्र्यादि के निर्माण करने में सर्वज्ञ के विना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सकें, हां वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न बना सके इसलिये वेद ईश्वरोक्त हैं इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसको मानते हैं ।। सत्यार्थप्रकाश ७ म समुल्लास।

५. वेदों का प्रत्येक अक्षर ईश्वर ने बनाया

गायत्रेण प्रति मिमीते अकर्मर्केण सामत्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्तवाणीः ।।

—ऋग्वेद १. १६४.२४ ।।

भावार्थ :—येन जगदीश्वरेण वेदस्थान्यक्षरपदवाक्यछन्दोऽध्यायादीनि निर्मितानि तस्मै सर्वे मनुष्या धन्यवादं दद्युः ॥

भाषार्थ :—(भाषा) जिस जगदीश्वर ने वेदस्थ अक्षर, पद, वाक्य, छन्द, अध्याय आदि बनाये हैं उसको सब मनुष्य धन्यवाद देवें ॥ —(ऋषि दयानन्द भाष्य)

६. ऋषि, देवता, छन्द और स्वर का लेखन

(प्रश्न) प्रत्येक मन्त्रस्योपरि ऋषि देवताछन्दस्वराः किमर्था लिख्यन्ते ? (उत्तरम्) यतो वेदानामीश्वरोत्तयनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथा वद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषानामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोस्ति। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोस्ति सः सोर्थस्तस्य तस्य देवता शब्देन्तभिप्रायार्थज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्। एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादि छन्दोस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम्। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादन पूर्वकं गानं कर्त्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादि स्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ॥

(प्रश्न) प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं ? (उत्तर) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे, फिर उनमें से जिस जिस मन्त्र का अर्थ जिस जिस ऋषि ने प्रकाशित किया उस उस का नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह

से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेद मन्त्रों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है इसलिये विद्वान् लोग वेद-मन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं। ये ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा होते हैं।

और जिन जिन मन्त्रों में जिन जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है उनके "मन्त्रमय देवता" जानने चाहियें, अर्थात् जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाय, इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।

ऐसे ही जिस जिस मन्त्र का जो जो छन्द है सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन कौन सा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं, जैसे गायत्री छन्द वाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान विद्या में भी प्रवीण हों। इसलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं॥

—(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रश्नोत्तर विषयः)

स्वरों के दो भेद होते हैं—उदात्त और षड्जादि भेद से दोनों सात सात प्रकार के होते हैं। इनमें षड्जादि स्वरों का प्रतिपादन अभी ऊपर किया गया। ये प्रत्येक मन्त्र के साथ ऋषि, देवता और छन्द के साथ लिखे जाते हैं।

अब उदात्तादि का प्रयोजन वेदार्थ में उपयोगी होने के कारण आगे लिखा जाता है। उदात्तादि स्वर भी सात प्रकार के होते हैं—अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एक श्रुति। इनका सामान्य चिह्न मन्त्रों के पदों पर ऊपर

खड़ी लकीर और नीचे पड़ी लकीर से होता है। परन्तु अष्टाध्यायी, महाभाष्य और ऋषि दयानन्द कृत "सौवर" पुस्तक से ठीक ठीक हो सकता है। "स्वर ज्ञान बुद्धि और परिश्रम साध्य है।" छन्द और स्वर के ज्ञान के विना वेद मन्त्रों का अर्थ ठीक नहीं जाना जा सकता है। साधारण विद्वानों की बात तो दूर रही, भाष्यकारों को भी इनका ठीक परिज्ञान नहीं होता। ऋग्वेदभाष्य के १.३९ सूक्त में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"सायणाचार्य्यादीनां मोक्षमूलरादीनां वा यदि छन्दः षड्जादिस्वर ज्ञानमपि न स्यात्तर्हि भाष्यकरणयोग्यता तु कथं भवेत्। (अर्थात्) जब सायणाचार्य्यादि वा मोक्षमूलरादिकों को छन्द और षड्जादिस्वरों का भी ज्ञान नहीं, तो भाष्यकरण की योग्यता तो कैसे होगी।"

अतः मन्त्रार्थ ज्ञान के लिये आर्ष रीति से स्वरादि का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य्य है।

७. शङ्का और उसका समाधान

शङ्का—प्रत्येक मन्त्र के साथ ऋषि का नाम है और मन्त्रार्थ द्रष्टा वह ऋषि ऐतिहासिक होता है। परन्तु ऐसे ही ऋषियों के कुछ नाम मन्त्रों में भी मिलते हैं। तब यदि वे भी ऐतिहासिक माने जावें, तो वेद में इतिहास मानना पड़ेगा। इससे वेद नित्य नहीं और ईश्वर रचित नहीं हो सकता। अतः वेद को ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

समाधान—यह ठीक है कि ऐसे कुछ ऋषि वाचक नामों का उल्लेख वेद मन्त्र में मिलता है, परन्तु मन्त्र में वे ऋषि नाम ऐतिहासिक नहीं हैं, अपितु यौगिक नाम होते हैं। वेद में कोई पद रूढ़ि नहीं है। सब ही यौगिक हैं, उनके अर्थ धातु से निष्पन्न होते हैं, जिस पदार्थ में ऐसे गौणिक नाम होते हैं, वेद मन्त्रांश के अर्थ का बोध कराते हैं। इतिहास का नहीं। एक बात और है कि जो पद

ऋषि नाम पर प्रतीत होता है, तब उस पद के भाव का अर्थ जिस ऐतिहासिक ऋषि ने सबसे पूर्व जाना और उसका प्रचार किया तो उस ऋषि का नाम उस पद के अर्थ के अनुसार गौणिक रूप में पड़ जाता है। इससे वेद मन्त्र का पद ऐतिहासिक नहीं है, अपितु उस मन्त्र पद के गौणार्थ में उस मन्त्र के अर्थ प्रकाशक और प्रचारक का नाम भी गुण रूप में लोक में प्रचलित हो जाता है। ऐसा गौणिक व्यवहार लोक में भी सदा से होता रहता है। अतः उक्त शङ्का निर्मूल है।

८. संहिता पाठ और पदपाठ

वेद मन्त्र संहिता रूप में प्रकाशित होते हैं पद रूप में नहीं। जब ध्यानावस्थित योगी ऋषि मुनि संहिता रूप मन्त्रों के अर्थों का प्रत्यक्ष अपने हृदय में करते हैं तब दूसरे मनुष्यों को मन्त्र का अर्थ बोध कराने के लिये मन्त्रगत संहितापाठ का पदशः पाठ करते हैं। इस पद्धति को एक प्रकार से मन्त्र भाष्य का प्रथम रूप जानना चाहिये। भाष्यकार विद्वान् लोग मन्त्र के संहितापाठ के साथ ही पदकार ऋषियों के पदपाठ को भी देते आये हैं। इससे अर्थ समझने में सुविधा होती है। संहिता में स्वर प्रक्रिया भी मूल ईश्वर प्रदत्त है, परन्तु पदपाठ में यह प्रक्रिया ऐतिहासिक और ऋषि प्रणीत होती है। मन्त्र में संहितास्वर एक समान होते हुये भी उसके अर्थ प्रकाशक ऋषि का अपना बोध होता है, तदनुसार पदपाठ का स्वर संहिता पाठ के स्वर से भिन्न भी हो जाता है। यही कारण है कि पदकारों में पदपाठों में स्वर और पद के विभाग में भिन्नता होती है। इस भेद के ज्ञान को निरुक्त शैली से भली प्रकार समझा जा सकता है। पदकार अनेक ऋषि मुनि हो चुके हैं, वे अपनी बुद्धि के अनुसार संहितापद का अर्थ करते हैं। मन्त्रगत पद का स्वर सब ऋषियों ने एक समान माना है, क्योंकि वह मूल और ईश्वर प्रदत्त है, परन्तु

उसका अर्थ पदपाठ रूप में करते हुये स्वर को बदला जाता है। इस प्रक्रिया में कुछ आपत्ति नहीं है, अपितु अर्थ की विशेषता के लिये यह उपयोगी और वेदार्थ में सहायक है। यह लिखा जा चुका है कि स्वर ज्ञान गहन और मेधा बुद्धि गम्य है। व्याकरण शास्त्र की पारंगता से ही इसको समझा जा सकता है। लोक में भी स्वर के बदलने में अर्थ बदल जाते हैं यह प्रत्यक्ष है, फिर ईश्वरीय ज्ञान वेद के स्वर को यथार्थ रूप से समझना पूर्ण रूप से वेदमन्त्रार्थ द्रष्टा योगी ऋषि का काम है। हम समझते हैं कि वेद का अर्थ ऋषि, योगी, तत्त्वज्ञ और वैज्ञानिक कोटि का देव पुरुष ही कर सकता है। सामान्य रूप से वेद का अर्थ समझने में व्याकरण आदि अंग अवश्यक सहायक हैं। परन्तु यह अत्यन्त ध्यान रखना आवश्यक है कि वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। वेदाङ्ग आदि शास्त्रों का प्रामाण्य वेदानुकूल होने से है। व्याकरण आदि अंगों को वेद की अपेक्षा है न कि वेद को व्याकरण आदि की। ऋषि मुनियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये हुये वेदार्थ को हम समझ सकें, यह भी बहुत बड़ी बात है।

६. ऽ चिह्न और इति पद का प्रयोजन

संहिता पाठ से जब पद पाठ बनाया जाता है तब व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार पद के विषय में पदकारों ने कुछ नियम माने हैं। यजुर्वेद का अध्ययन करने वालों को पूरी जानकारी अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थों से प्राप्त करनी चाहिये। हम यहां उदाहरण के लिये चार संहिता पद और उनके पदपाठ देते हैं। इसी संलग्न अध्याय ३२ के प्रथम मन्त्र में "प्रजापतिः" समस्त संहिता पद है। इसका पदपाठ इस प्रकार किया गया है—"प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः" यहां इति शब्द से यह निर्देश मिलता है कि प्रजापति संहिता पद में 'प्रजा' और 'पतिः' पद संहित हैं। इसीलिये ऽ चिह्न प्रजा और पतिः को पृथक् पृथक् रूप में पदपाठ में दर्शाता है। (२)

दूसरे मन्त्र में निमेषाः और विद्युतः दो संहिता पाठों को निमेषाऽइति निऽमेषाः तथा विद्युतऽइति विऽद्युतः पदपाठ बनता है। (३) तीसरे मन्त्र में प्रतिमा संहिता पाठ है। इसका रूप पदपाठ में प्रतिमेति प्रतिऽमा दिया गया है। (४) छठे मन्त्र में स्वः संहिता पाठ को पदपाठ में यह रूप बनाया--स्वरिति स्वः। यहां संहिता पद में भिन्न भिन्न पद नहीं हैं अतः ऽ चिह्न नहीं दिया गया। यहां इति शब्द यह बतलाता है कि स्वः पद में अन्त में जो : विसर्ग है वह 'र' का रूप है न कि 'स्' का। 'स्' का भी विसर्ग : रूप बनता है। इसी भेद को बनाने के लिये 'स्वः संहिता' पद का पदपाठ स्वरिति स्वः दिया गया है। व्याकरण शास्त्र कुछ संज्ञाएं मानी जाती हैं—यथा पद, प्रगृह्य और अवगृह आदि। वेद का अर्थ समझने के लिये पदपाठ में इनका भी व्यवहार मिलता है। इनका भी ध्यान रखना पदपाठ पर विचार करते समय चाहिये।

१०. वेदार्थ में व्यत्यय का प्रयोजन

वेद शब्दों की आनुपूर्वी निश्चित है। मन्त्रों में पदों को इधर उधर आगे पीछे नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और नित्य है—अतः उसका बनाया वेद भी पूर्ण है, उसमें परिवर्तन नहीं किया जाता। वेदज्ञान त्रैकाल्याबाध्य है। परन्तु लौकिक भाषा में आनुपूर्वी का नियम नहीं है, इसमें स्व प्रयोजन को प्रकट करने के लिये लौकिक शब्दों को इधर उधर किया जाता है—यह सिद्ध नहीं है।

वेद शब्दों का अर्थ जब लौकिक भाषा में किया जाता है तब वेद के मूल शब्द को सुरक्षित रखते हुये भी लौकिक अर्थ करते समय वेद शब्द के अर्थ को अपनी भाषा में समझाने के लिये अनेक परिवर्तन वर्ण आदि के रूप में किये जाते हैं। इसी का नाम "व्यत्यय" है। पाणिनि मुनि का ३.१.८५ का सूत्र है "व्यत्ययो बहुलम्।" इस पर पतञ्जलि मुनि का यह वचन है--

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयडनं च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि सिध्यति बाहुलकेन ॥

इस उपर्युक्त सूत्र और महाभाष्य के वचन को ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तिम मार्ग में व्याकरण विषय में दिया है। अष्टाध्यायी व्याकरण का प्रयोजन वेद और लोक दोनों के लिये है। अतः वेद के अर्थ को लौकिक भाषा में करने के लिये इस 'व्यत्यय' नियम को सभी प्राचीन ऋषि मुनि और वैयाकरणों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। महर्षि यास्क रचित निघण्टु भाष्य निरुक्त में इस नियम का प्रयोग मिलता है। वेदार्थ का स्वाध्याय करने वाले सज्जनों को अष्टाध्यायी व्याकरण और निरुक्त को अवश्य पढ़ना चाहिये।

ऋषि दयानन्द जी ने अपने वेदभाष्य से वेदमन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये व्यत्यय नियम का प्रयोग किया है। आगे देखिये—ऋ० १.३६.१९ में 'त्वाम्' पर ऋषि लिखते हैं—'अत्र स्वरव्ययत्या-दुदात्त्वम्' सायणाचार्य्येणेदं 'भ्रमान्न बुद्धम्' अर्थात् स्वर व्यत्यय से यहां उदात्त्व होता है, सायणाचार्य्य ने भ्रम से इसको नहीं समझा। ऋ० १.११३.१७ में "स्तवानः" पद की व्याख्या में ऋषि लिखते हैं--'अत्र स्वरव्ययत्येनाद्युदात्तत्वम्' अर्थात् यहां स्वर व्यत्यय से आद्युदात्तत्व होता है। विभक्ति आदि के व्यत्यय के लिये ऋषि कृत यजुर्वेद भाष्य भरा पड़ा है।

११. वेदमन्त्र के भाष्य का क्रम

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के अन्त में ऋषि दयानन्द ने लिखा है—

"मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्रमन्त्रस्तस्य पदानि च ।
पदार्थान्वय भावार्थाः क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः ॥

इस मन्त्र भाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है फिर मूल मन्त्र। उसका पदच्छेद। क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदार्थों का अर्थ। अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्ध पूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रम से मन्त्र भाष्य बनाया जाता है।" जैसे इसी अध्याय के आरम्भ में 'अथ परमेश्वरः कीदृश इत्याह।' यह मन्त्रार्थभूमिका है। इसके साथ ही आर्य भाषा में यही भूमिकार्थ दे दिया है। इससे आगे मन्त्र अर्थात् संहिता पाठ। आगे मन्त्र का पदच्छेद अर्थात् पदों का अलग अलग करना--यही पदपाठ है। पुनः मन्त्र के प्रत्येक पद का सप्रमाण संस्कृत भाषा में अर्थ। आगे मन्त्र के पदों की सम्बन्ध पूर्वक योजना इससे मन्त्रार्थ लोक भाषा में स्पष्ट हो जाता है। पुनः मन्त्र का प्रयोजन=मुख्य भाव संस्कृत में दिया है। यह अत्यावश्यक। इसके पश्चात् आर्यभाषा में जो पदार्थ दिया गया है वह संस्कृत भाग के अन्वय के अनुसार है, संस्कृत पदार्थ के अनुसार से नहीं। अन्त में संस्कृत भावार्थ का आर्य भाषा में भावार्थ दिया है। इस शैली को आवश्यक रूप में समझ लेना चाहिये।

संस्कृत पदार्थ में अन्य आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण भी दिये गये हैं, जिससे संस्कृत के जानने वाले विद्वान् उन उन ग्रन्थों के उन उन स्थलों को प्रमाण रूप में देख सकें। भाषा पदार्थ में उन प्रमाणों को इसलिये छोड़ दिया गया कि आर्य भाषा जानने वाले पदों के अन्वयार्थ के अनुसार पदों के परस्पर सम्बन्ध पूर्वक अर्थ को भली प्रकार ग्रहण कर सकें। दोनों भाषाओं में भावार्थ इसलिये दिया गया है कि मन्त्र के मुख्य भाव को समझा जा सके।

१२. एक मन्त्र में अन्य मन्त्रों की प्रतीकें

इस अध्याय के तीसरे मन्त्र "न तस्य प्रतिमा" के अन्तर्गत (१) "हिरण्यगर्भ इत्येषः" यजुर्वेद अध्याय २५, मन्त्र १०, ११, १२ और १३ (चार मन्त्रों का अनुवाक) दिया गया है। (२) "मा मा हिंसीदित्येषा" यजुर्वेद अध्याय १२, मन्त्र १०२ की एक ऋचा दी गई है। (३) तथा "यस्मान्न जात इत्येषः" यजुर्वेद अध्याय ८, मन्त्र ३६ और ३७ (दो मन्त्रों का अनुवाक दिया गया है।)

ये प्रतीकें किसी ऋषि ने नहीं डाली हैं, अपितु ईश्वर रचित इस तीसरे मन्त्र का अंश है। ऋषि दयानन्द ने संस्कृत पदार्थ में इन प्रतीकों को मन्त्र का अंश मानकर अर्थ किया है और अन्वय में एक पक्ष इन प्रतीकों को मन्त्रांश रूप में दिया है तथा दूसरे पक्ष में आप प्रतीकों को उन उन अध्यायों को अमुक अमुक मन्त्रों को देकर अन्वय के अन्तर्गत कर दिया है। इसका आधार ऋषि दयानन्द ने यह दिया है कि अन्वय के आरम्भ में--"हे मनुष्या ! यस्य महद्यशो नामनि मन्त्रांश देकर सब प्रतीकें देकर अन्वय के अन्त में "तस्य प्रतिमा नास्ति" देकर अन्वय पूरा किया है तथा पक्षान्तर में सब प्रतीकें देकर अन्वय में "यस्य भगवतो मद्यशोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति" इस आधार पर यह सिद्ध है कि ऋषि दयानन्द इन प्रतीकों का इस मन्त्र का अंश स्वीकार करते हैं। वह संस्कृत अन्वय का भाषा पदार्थ करते हैं न कि संस्कृत पदार्थ का भाषा पदार्थ, जैसा कि हम अभी लिख चुके हैं। ऋषि के इस लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि वह इन प्रतीकों को मंत्रांश मानकर उक्त प्रतीकों में दिये सभी मन्त्रों का इस मन्त्र के साथ स्वाध्याय किया जावे। ऋषि के संस्कृत और भाषा भावार्थों से यह भाव सिद्ध होता है। आशा है स्वाध्यायशील सज्जन प्रतीकों में दिये गये सभी मन्त्रों के ऋषि कृत अर्थों का मनन भी इस मन्त्र के अर्थों के साथ करें।

१३. वेदभाष्य का प्रयोजन

(प्रश्नः) किञ्च भोः। नवीनं भाष्यं त्वया क्रियन्ते आहोस्वित्पूर्वाचार्य्यैः कृतमेव प्रकाश्यते यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत्पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्त्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति। (उत्तरम्) पूर्वाचार्य्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तै ऋषिभिश्चैतरेय शतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा पाणिनियतञ्जलि यास्कादि महर्षि भिश्च वेद व्याख्यानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्याप्तिविर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट् शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति, एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थं प्रकाश्यते न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वच्छया रच्यत इति॥ (प्र०) किमनेन फलं भविष्यतीति !

(उ०) यानि रावणोवदसायण महीधरादिभिर्वेदार्थ विरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनस्ततेणङ्गे लण्डेशारमण्यदेशोत्पन्नै र्यूरोपखण्डदेशनि वासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानिव्याख्यादिनानि कृतानि, तथैवार्य्यवर्त्त देशस्यैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थ गर्भाणि सन्तीति सज्जनानंहृदयेषु यथावत्प्रकाशौ भविष्यति, टीकानामधिकदोष प्रतिस्था त्यागश्च। परन्त्वकाशाभावा त्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते॥

भाषार्थ—(प्रश्न) क्यों जी जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचार्य्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन, जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है तब तो बनाना व्यर्थ है, क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं और जो नया बनाते हो तो उसको कोई भी न मानेगा, क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाता है, वह बात कब ठीक हो सकती है ?

(उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्य्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जाती और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग, एतरेय, शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है। क्योंकि जो प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में वेदों से भिन्न शास्त्र, गिन आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान नहीं हैं। वैसे ही ग्यारह सौ सत्ताईश (११२७) वेदों की शाखा भी उनके व्याख्यान हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाण युक्त यह भाष्य बनाया जाता है और दूसरा इनका अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो जो भाष्य उवट, सायण, महीधर आदि ने बनाये हैं। वे सब मूलार्थ और सतातन वेद व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेद व्याख्यान बनाये हैं वे भी अशुद्ध हैं। ○

१४. चारों वेदों की भूमिका एक ही है

यजुर्वेद भाष्य के आरम्भ में—

अन्यत्सर्वं भूमिकायां प्रकाशित तत्र दृष्टव्यक् वा भूमिका चतुर्णां वेदानाभेकैववर्तते ॥

और सब भूमिका में साफ कर दिया है वहां देख लेना चाहिये। क्योंकि उक्त भूमिका चारों वेदों की एक ही है।

———

॥ ओ३म् ॥

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानी परासुव यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

तदेवेत्यस्य स्वयम्भुब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथ परमेश्वरः कीदृश इत्याह ॥

अब परमेश्वर कैसा है इस वि० ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ १ ॥

तत्। एव। अग्निः। तत्। आदित्यः। तत् वायुः। तत्। ऊँ इत्यूँ। चन्द्रमाः। तत्। एव। शुक्रम्। तत् ब्रह्म। ताः। आपः। सः। प्रजापतिरिति प्रजापतिः ॥ १ ॥

पदार्थः—(तत्) सर्वज्ञं सर्वव्यापि सनातनमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपमं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं न्यायकारि दयालु जगत्स्रष्ट्र जगद्धर्त्तृ सर्वान्तर्यामि (एव) निश्चये (अग्निः) ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्च (तत्) (आदित्यः) प्रलये सर्वस्यादृत्वात् (तत्) (वायुः) अनन्तबलत्वसर्वधर्तृत्वाभ्याम् (तत्) (उ) (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूत्वादाह्लादकत्वाच्च (तत्) (एव) (शुक्रम्) आशुकारित्वाच्छुद्धभावाच्च (तत्) (ब्रह्म) सर्वेभ्योमहत्त्वात् (ताः) (आपः) सर्वत्रव्यापकत्त्वात् (सः) (प्रजापतिः) सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वात् ॥१॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत ॥१॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यथेश्वरस्येमान्यग्न्यादीनि गौणिकानि नामानि सन्ति तथान्यान्यीन्द्रादीन्यपि वर्त्तन्ते। तस्यैवोपासना फलवती भवतीति वेद्यम् ॥१।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (तत्) वह सर्वज्ञ सर्वव्यापि सनातनि अनादि सच्चिदानन्त स्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा, धारणकर्त्ता और सबका अन्तर्यामी (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि (तत्) वह (आदित्यः) प्रलय समय सब को ग्रहण से आदित्य (तत्) वह (वायुः) अनन्त बलवान् और सबका धर्ता होने से वायु (तत्) वह (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा (तत् एव) वही (शुक्रम्) (तत्) वह (ब्रह्म) महान् होने से ब्रह्म (ताः) वह (आपः) सर्वत्रव्यापक होने से आप (उ) और (सः) वह (प्रजापतिः) सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है ऐसा तुम लोग जानो ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यो ! जैसे ईश्वर के ये अग्नि आदि गौण नाम हैं वैसे और भी इन्द्र आदि नाम हैं उसी की उपासना फल वाली है। ऐसा जानो ॥

सर्व इत्यस्य स्वयम्भुब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि ॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।

नैनमूर्द्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ २ ॥

सर्वे । निमेषाऽइति निऽमेषाः । जज्ञिरे । विद्युतऽइति विऽद्युतः । पुरुषात् अधि । न । एनम् । ऊर्द्ध्वम् । न । तिर्यञ्चम् । न । मध्ये । परि । जग्रभत् ॥ २ ॥

पदार्थः—(सर्वे) निमेषाः) नेत्रोन्मीलनादिलक्षणाः कलाकाष्ठादिकालाऽवयवाः (जज्ञिरे) जायन्ते (विद्युतः) विशेषेण द्योतमानात् (पुरुषात्) पूर्णाद्विभोः (अधि) (नः) निषेधे (एजम्) परमात्मानम् (उद्धर्वम्) उपरिस्थम् (न) तिर्यञ्चयोतिर्य्यक्स्थितमधस्थं वा (न) (मध्ये) (परि) सर्वतः (जग्रभत् गृह्णाति ॥२॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यस्माद्विद्युतः पुरुषात्सर्वे निमेषा अधि जज्ञिरे तमेनं कोपिनोद्धर्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्तं यूयं सेवध्वम् ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यस्य निर्माणेन सर्वे कालावयवा जाता यच्चोद्धर्वमधोमध्ये पार्श्वतो दूरे निकटे वा कथयितुमशक्यं यत् सर्वत्र पूर्णं ब्रह्माऽस्ति तद्योगाभ्यासेन विज्ञाय सर्वे भवन्त उपासीरन् ॥२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जिस (विद्युतः) विशेष कर प्रकाशमान (पुरुषात्) पूर्णपरमात्मा से (सर्वे) सब (निमेषाः) निमेषकलाकाष्ठा आदि काल के अवयव (अधि, जज्ञिरे) अधिकतर उत्पन्न होते हैं उस (एनम्) इस परमात्मा को कोई भी (न) न ऊर्द्ध्वम्) ऊपर (न) न (तिर्यञ्चम्) तिरछा सब दिशाओं में वा नीचे और (न) न (मध्ये) बीच में (परि, जग्रभत्) सब ओर से ग्रहण कर सकता है उसको तुम सेवो ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिसके रचने से सब काल के अवयव उत्पन्न हुए और जो ऊपर नीचे बीच में पीछे दूर समीप कहा नहीं

जा सकता। जो सर्वत्रपूर्ण ब्रह्म है उसको योगाभ्या से जान के सब आप लोग उपासना करो ॥२॥

न तस्येत्यस्य स्वयभु ब्रह्म ऋषिः। हिरण्यगर्भः परमात्मा देवता। निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥ ३॥

न। तस्य। प्रतिमेति प्रतिऽमा। अस्ति। यस्य नाम। महत्। यशः। हिरण्यगर्भऽइति हिरण्यऽगर्भः। इति। एषः। मा। मा। हिꣳसीत्। इति। एषा। यस्मात्। न। जातः। इति। एषः॥ ३॥

पदार्थः--(न) निषेधे (तस्य) परमेश्वरस्य (प्रतिमा) प्रतिमीयते यथा तत्परिमापकं सदृशं तोलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा (अस्ति) वर्त्तते (यस्य) (नाम) नामस्मरणम् (महत्) पूज्यं बृहत् (यशः) कीर्त्तिकरं धर्म्यकर्म्माचरणम् (हिरण्यगर्भः) सूर्य्यविद्युदादिपदाधिकरणः (इति) (एषः) अन्तर्यामित्या प्रत्यक्षः (मा) निषेधे (मा) मां जीवात्मानम् (हिंसीत्) हन्यात्ताऽयेद्विमुखं कुर्यात् (इति) (एषा) प्रार्थना प्रज्ञा वा (यस्मात्) कारणात् (न) निषेधे (जातः) उत्पन्न (इति) (एषः) परमात्मा ॥३॥

अन्वय--हे मनुष्या! यस्य महद्यशो नामास्ति यो हिरण्यगर्भ इत्येषो यस्य मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येष उपासनीयोस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति। यद्वा पक्षान्तरम्-हिरण्यगर्भ इत्येष (२५।१०-१३) उक्तोऽनुवाको मा मा हिंसीदित्येषोक्ता (१२,१०२) ऋक्

यस्मान्न जात इत्येष (८।३६।३७) उक्तोऽनुवाकश्च। यस्य भगवतो नाम महद्यशोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति ॥३॥

भावार्थ :—हे मनुष्या ! यः कदाचिद्देहधारी न भवति यस्य किञ्चदपि परिमाणं नास्ति यस्याज्ञापालनमेव नामस्मरणमस्ति य उपासितः सन्नुपासकान नुगृह्णाति वेदानामनेकस्थलेषु यस्य महत्त्वं प्रतिपाद्यते यो न म्रियते न विक्रियते न क्षीयते तस्यैवोपासनां सततं कुरुत यद्यस्माद्भिन्नस्योपासनां करिष्यन्ति तर्ह्यनेन महता पापेन युक्ताः सन्तो भवन्तो दुःख क्लेशैर्हता भविष्यन्ति ॥३॥

पदार्थ :—हे मनुष्यो ! (यस्य) जिसका (महत्) पूज्य बड़ा (यशः) कीर्त्ति करने हारा धर्मयुक्त कर्म का आचरण ही (नाम) नाम स्मरण है जो (हिरण्यगर्भः) सूर्य्य बिजुली आदि पदार्थों का आधार (इति) इस प्रकार (एषः) अन्तर्यामि होने से प्रत्यक्ष जिसकी (मा) मुझको (मा, हिंसीत्) मत ताड़ना दे वा वह अपने से मुझको विमुख मत करें (इति) इस प्रकार (एषा) यह प्रार्थना वा बुद्धि और (यस्मात्) जिस कारण (न) नहीं (जातः) उत्पन्न हुआ (इति) इस प्रकार (एषः) यह परमात्मा उपासना के योग्य है (तस्य) उस परमेश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमा—परिमाण उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकृति, मूर्त्ति वा आकृति (न, अस्ति) नहीं है। अथवा द्वितीय पक्ष यह है कि (हिरण्य गर्भः०) इस पच्चीसवें अध्याय में १० मन्त्र से १३ मन्त्र तक का (इति, एषः) यह कहा हुआ अनुवाक (मा, मा हिंसीत्) (इति) इस प्रकार (एषा) यह ऋचा बारहवें अध्याय की १०२ मन्त्र हैं और (यस्मान्न जातः इत्येषः०) यह अठारहवें अध्याय के ३६।३७ दो मन्त्र का अनुवाक (यस्य) जिस परमेश्वर की (नाम) प्रसिद्ध (महत्) महती (यशः) कीर्त्ति है (तस्य) उसका (प्रतिमा) प्रतिबम्ब (तस्वीर) नहीं है ॥३॥

भावार्थ :—हे मनुष्यो ! जो कभी देहधारी नहीं होता जिसका

कुछ भी परिमाण सीमा का कारण नहीं हैं जिसकी आज्ञा का पालन ही नाम स्मरण है जो उपासना किया हुआ अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है वेदों के अनेक स्थलों में जिसका महत्व कहा गया है जो नहीं मरता न विकृत होता न नष्ट होता उसकी उपासना निरन्तर करो जो इससे भिन्न की उपासना करोगे तो इस महान् पाप से युक्त हुये आप लोग दुःख क्लेशों से नष्ट होगे ॥३॥

एष इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। आत्मा देवता। भुरिक् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः।

पुनस्तमेव विषयमोह ॥

फिर उसी वि० ॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ ४ ॥

एषः। ह। देवः। प्रदिशऽइति प्रऽदिशः। अनु। सर्वाः। पूर्वः। ह। जातः। सः। उऽइत्यूँ। गर्भे। अन्तरित्यन्तः। सः। एवा। जातः। सः। जनिष्यमाणः। प्रत्यङ्। जनाः। तिष्ठति। सर्वतोमुख इति सर्वतःऽमुखः ॥ ४ ॥

पदार्थ :—(एषः) परमात्मा। अत्र विभक्तेरलुक् (ह) प्रसिद्धम् (देवः) दिव्यस्वरूपः (प्रदिशः) (अनु) आनुकूल्ये (सर्वाः) दिशश्च (पूर्वः) प्रथमः (ह) प्रसिद्धम् (जातः) प्राकट्यं प्राप्तः (सः) (उ) एव (गर्भे) अन्तःकरणे (अन्तः) मध्ये (सः) (एव) (जातः) प्रसिद्धः (सः) (जनिष्यमाणः) प्रसिद्धिं प्राप्स्यमानः (प्रत्यङ्) प्रतिपदार्थमञ्चति प्राप्नोति (जनाः) विद्वांसः (तिष्ठति) वर्त्तते (सर्वतोमुखः) सर्वतो मुखाद्यवयवा यस्य सः ॥४॥

अन्वय :—हे जना। एषो ह देवः सर्वाः प्रदिशोऽनु व्याप्य स उ गर्भेऽन्तः पूर्वो प जातः स एव जातः स जनिष्यमाणः सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति स युष्माभिरुपासनीयो वेदितव्यश्च ।।४।।

भावार्थ :—अयं पूर्वोक्त ईश्वरो जगदुत्पाद्य प्रकाशितः सन् सर्वासु दिक्षु व्याप्येन्द्रियाण्यन्तरेण सर्वेन्द्रियकर्माणि सर्वगतत्वेन् कुर्वन् सर्वप्राणिनां हृदये तिष्ठति सोऽतीतानागतेषु कल्पेषु जगदुत्पादनाय पूर्वं प्रकटो भवति स ध्यानशीलेन मनुष्येण ज्ञातव्यो नान्येनेति भावः ।।४।।

पदार्थ :—हे (जनाः) विद्वानो ! (एषः) यह (ह) प्रसिद्ध परमात्मा (देवः) उत्तम स्वरूप (सर्वाः) सब दिशा और (प्रदिशः) विदिशाओं को (अनु) अनुकूलता से प्राप्त होके (सः) (उ) वही (गर्भे) अन्तःकरण के (अन्तः) बीच (पूर्वः) प्रथम कल्प के आदि में (ह) प्रसिद्ध (जातः) प्रकटता को प्राप्त हुआ (सः, एव) वही (जातः) प्रसिद्ध हुआ (सः) वह (जनिष्यमाणः) आगामी कल्पों में प्रथम प्रसिद्धि को प्राप्त होगा (सर्वतोमुखः) सब ओर से मुखादि अवयवों वाला अर्थात् मुखादि इन्द्रियों के काम सर्वत्र करता (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ (तिष्ठति) अचल सर्वत्र स्थिर है। वही तुम लोगों को उपासना करने और जानने योग्य है ।।४।।

भावार्थ :—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ सब दिशाओं में व्याप्त होके इन्द्रियों के विना सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है वह भूत भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिये पहिले प्रकट होता है वह ध्यानशील मनुष्य के जानने योग्य है अन्य के जानने योग्य नहीं है ।।४।।

यस्मादित्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमेश्वरो देवता। भूरिक्त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ।।

पुस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

यस्मा॑ज्जातं न पु॒रा किञ्च॒नैव य आ॑बभू॒व भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ स॒ꣳरा॒णस्त्रीणि॒ ज्योतीꣳ॑षि सचते॒।
स षो॑ड॒शी ॥ ५ ॥

यस्मा॑त्। जा॒तम्। न। पु॒रा। किम्। च॒न। ए॒व। यः।
आ॒ब॒भू॒वेत्या॑ऽऽब॒भूव॑। भुव॑नानि। विश्वा॑। प्र॒जाप॑तिरिति॑
प्र॒जाऽप॑तिः। प्र॒जया॑। स॒ꣳरा॒ण इति॑ सम् रा॒णः। त्रीणि॑।
ज्योतीꣳ॑षि। स॒च॒ते॒। सः। षो॒ड॒शी ॥ ५ ॥

पदार्थ :—(यस्मात्) परमेश्वरात् (जातम्) उत्पन्नम् (न) निषेधे (पुरा) पुस्तात् (किम्) (चन) किञ्चिदपि (एव) (यः) (आबभूव) समन्ताद्भवति (भुवनानि) लोकजातानि। सर्वाऽधिकरणानि (विश्वा) सर्वाणि (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकोऽधिष्ठाता (प्रजया) प्रजातया (सम्) (रराणः) सम्यक् रममाणः (त्रीणि) विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि (ज्योतिंषि) तेजोमयानि प्रकाशकानि (सचते) समवैति (सः) (षोडशी) षोडशकला यस्मिन् सन्ति सः ॥५॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यस्मात् पुरा किञ्चन् न जातं यस्सर्वत आबभूव यस्मिन् विश्वा भुवनानि वर्त्तन्ते, स एव षोडशी प्रजया सह संरराणः प्रजापतिस्त्रीणि ज्योतींषि सचते ॥५॥

भावार्थः—यस्मादीश्वरोऽनादिर्वर्त्तते ततस्तस्मात्पूर्वं किमपि भवितुन्न शक्यम्। स एव सर्वासु प्रजासु व्याप्तो जीवानां कर्माणि पश्यन् संस्तदनुकूलफलं ददन्न्यायं करोति येन प्राणादीनि षोडश वस्तूनि सृष्टान्यतः स षोडशीत्युच्यते। प्राणः श्रद्धाऽऽकाशं, वायुरग्नि-

जलं, पृथिवीन्द्रियं, मनोऽन्नं, वीर्य्यं, तपो, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, नाम च षोडशकलाः। प्रश्नोपनिषदि षष्ठे प्रश्ने वर्णिताः। एतत्सर्वं षोडशात्मकं जगत् परमात्मनि वर्त्तते तेनैव निर्मितं पाल्यते च ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यस्मात्) जिस परमेश्वर से (पुरा) पहिले (किम्, चन) कुछ भी (न जातम्) नहीं उत्पन्न हुआ (यः) जो सब ओर (आबभूव) अच्छे प्रकार से वर्त्तमान है। जिसमें (विश्वा) सब (भुवनानि) वस्तुओं के आधार सब लोक वर्त्तमान हैं (सः, एव) वही षोडशी) सोलह कला वाला (प्रजया) प्रजा के साथ (सम्, रराणः) सम्यक् रमण करता हुआ (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक अधिष्ठाता (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) तेजोमय बिजुली, सूर्य्य, चन्द्रमा रूप प्रकाशक ज्योतियों को (संचत) संयुक्त करता है ॥५॥

भावार्थः—जिसमें ईश्वर अनादि है इस कारण उससे पहिले कुछ भी हो नहीं सकता वही सब प्रजाओं में व्याप्त जीवों के कार्यों को देखता और उनके अनुकूल फल देता हुआ न्याय करता है जिसने प्राण आदि सोलह वस्तुओं को बनाया है इससे वह षोडशी कहाता है (प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, और नाम) ये षोडश कला प्रश्नोपनिषद् में हैं यह सब षोडश वस्तु रूप जगत् परमात्मा में है उसी ने बनाया और वही पालन करता है ॥५॥

येनेत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

येन । द्यौः उग्रा । पृथिवी । च । दृढा । येन । स्वरिति स्वः । स्तभितम् । येन । नाकः । यः अन्तरिक्षे । रजसः । विमान इति विऽमानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ६ ॥

पदार्थः—(येन) जगदीशश्वरेण (द्यौः) सूर्यादिप्रकाशवान् पदार्थः (उग्रा) तीव्रतेजस्का (पृथिवी) भूमिः (च) (दृढा) दृढीकृता (येन) (स्वः) सुखम्) (स्तभितम्) धृतम् (येन) (नाकः) अविद्यमान-दुःखोमोक्षः (यः) (अन्तरिक्षे) मध्यवर्त्तिन्याकाशे (रजसः) लोक-समूहस्य । लोका रजांस्युच्यन्ते इति निरुक्तम् । (विमानः) विविधं । मानं यस्मिन् सः । (कस्मै) सुखस्वरूपाय (देवाय) स्वप्रकाशाय सकलसुखदात्रे (हविषा) प्रेमभक्तिभावेन (विधेम) परिचरेम् प्राप्नुयाम वा ॥६॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! येनोग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः स्तभितोयोऽअन्तरिक्षे वर्त्तमानस्य रजसो विमानोऽस्ति तस्मै कस्मै देवाय वयं हविषा विधेमैवं यूयमप्येनं सेवध्वम् ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यः सकलस्य ! जगतो धर्त्ता सर्वसुख-प्रदाता मोक्षसाधक आकाश इव व्याप्तः परमेश्वरोऽस्ति तस्यैव भक्ति कुरुत ॥६॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (येन) जगदीश्वर ने (उग्रा) तीव्र तेज वाले (द्यौः) प्रकाशयुक्त सूर्य्यादि पदार्थ (च) और (पृथिवी) भूमि (दृढा) दृढ की है (येन) जिसने (नाकः) सब दुःखों से रहित मोक्ष धारण किया (यः) जो (अन्तरिक्षे) मध्यवर्ती आकाश में वर्त्तमान (रजसः) लोकसमूह का (विमानः) विविधि मान करने वाला उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) स्वयं प्रकाशमान सकल सुखदाता ईश्वर के लिये हम लोग (हविषः) प्रेमभक्ति से (वियोम) सेवाकारी वा प्राप्त होवें ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो समस्त जगत् का धर्त्ता सब सुखों का दिति मुक्ति का साधक आकाश के तुल्य व्यापक परमेश्वर है उसी की भक्ति करो ॥६॥

यं क्रन्दसीत्यस्य स्वयम्भुब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । स्वराडतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने । यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम आपो ह यद् बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥

यम् । क्रन्दसीऽइति क्रन्दसी । अवसा । तस्तभानेऽइति तस्तऽभाने । अभि । ऐक्षेताम् । मनसा । रेजमानेऽइति रेजमाने । यत्र । अधि । सूरः । उदितऽइत्युत्ऽइत । विभातीति विऽभाति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम । आपः । ह । यत् । बृहतीः । यः । चित् । आपः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यम्) (क्रन्दसी) गुणैः प्रशंसनीये (अवसा) रक्षणादिवा (तस्तभाने) धारिके (अभि) आभिमुख्य) (ऐक्षेताम्) ईक्षेतां पश्यतः (मनसा) विज्ञानेन (रेजमाने) चलन्त्यौ भुगन्त्यौ (यत्र) यस्मिन् (अधि) उपरि (शूरः) सूर्यः (उदितः) उदयं प्राप्तः (विभाति) विशेषेण प्रकाशन् प्रकाशयिता भवति (कस्मै) सुखसाधकाय (देवाय) शुद्धस्वरूपाय (हविषा) आदातव्येन योगाभ्यासेन (विधेम) (आपः) व्याप्ताः (ह) किल (यत्) याः (बहतोः) महत्यः (यः) (चिन्) अपि (आपः) आकाशः ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यं परमात्मानं प्राप्ते तस्तभाने रेजमाने क्रन्दसी द्यावापृथिव्याववसा सर्वं धरतो पत्र सूरोध्युदितो यद् या बृहतीरापोह यश्चिदापः सन्ति ताश्चिदपि विभाति तं तौ चाऽध्यापकोपदेशकौ मनसा अभ्यैक्षेतां तस्मै कस्मै देवाय हविषा वयं विधेमैनं यूयमपि भजत ॥७॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यत्र सर्वाभिव्यापकेश्वर सूर्य्यपृथिव्यादयो लोका भ्रमन्तः सन्तो दृश्यन्ते येन प्राण आकाशोपि व्याप्तस्तं स्वात्मस्थं यूयमुपासीध्वम् ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! (यम्) जिस परमात्मा को प्राप्त अर्थात् उसके अधिकार में रहने वाले (तस्तभाने) सबको धारण करने हारे (रेजमाने) चलायमान (क्रन्दसी) स्वगुणों से प्रशंसा करने योग्य सूर्य्य और पृथिवी लोक (अवसा) रक्षा आदि से सबको धारण करते हैं (पत्र) जिस ईश्वर में (सूर्यः) सूर्य्यलोक (अधि, उदितः) अधिकतर उदय को प्राप्त हुआ (यत्) जो (ब्रहतीः) महत् (आपः) व्याप्त जल (ह) ही (यः) और जो कुछ (चित्) भी (आपः) आकाश है उसको भी (विभाति) विशेष कर प्रकाशित करता हुआ प्रकाशक होता है उस ईश्वर को अध्यापक और उपदेशक (मनसा) विज्ञान से (अभि, ऐक्षेताम्) अभिमुख्य कर देखते उस (कस्मै) सुखसाधक (देवाय) शुद्धस्वरूप परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास से हम (विधेम) सेवा करने वाले हों उसको तुम लोग भी भजो ॥७॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस सब ओर से व्यापक परमेश्वर में सूर्य्य पृथिवी आदि लोक भ्रमते हुए दीखते हैं जिस ने प्राण और आकाश को भी व्याप्त किया उस अपने आत्मा में स्थित ईश्वर की तुम लोग उपासना करो ॥७॥

वेन इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदꣳ सञ्च विचैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ ८॥

वेनः। तत्। पश्यत्। निहितमिति निऽहितम्। गुहा। सत्। यत्र। विश्वम्। भवति। एकनीडमित्येकऽनीडम्। तस्मिन्। इदम्। सम्। च। वि। च। एति। सर्वम्। सः। ओतऽइत्याऽउतः। प्रोतऽइति प्रऽउतः। च। विभूरिति विऽभूः। प्रजास्विति प्रजासु॥ ८॥

पदार्थः—(येन) पण्डितो विद्वान् (तत्) चेतनं ब्रह्म (पश्यत्) पश्यतिस्थितम् (निहितम्) (गुहा) गुहायां बुद्धौ गुप्ते कारणे वा (सत्) नित्यम् (यत्र) यस्मिन् (विश्वम्) सर्वम् जगत् (भवति) (एकनडीम्) एकस्थानम् (तस्मिन् (इदम्) जगत् (सम्) (च) (वि) (च) (एति) (सर्वम्) (सः) (ओतः) ऊर्ध्वतन्तुः पट इव (प्रोत.) तिर्यक्तन्तुषु पट इव (च) (विभूः) व्यापकः (प्रजासु) प्रकृति-र्जीवादिषु॥८॥

अन्वय—हे मनुष्या! यत्र विश्वमेकनीडं भवति तद्गुहा निहितं सद्वेनः पश्यत्। त्यस्मिन्निदं सर्वं समेति च व्येति च स विभू प्रजा-स्वोतः प्रोतश्च स एव सर्वैरुपासनीयोऽस्ति॥८॥

भावार्थ—हे मनुष्या ! विद्वानेव यं बुद्धिबलेन जानाति यः सर्वेसामाकाशादीनां पदार्थानामधिकरणमस्ति यत्र संहारकाले सर्वं जगल्लीयते सर्गकाले च यतो निस्सरति येन व्याप्तेन विना किञ्चिदपि वस्तु न वर्त्तते तं विहायऽन्यं किञ्चदप्युपास्यमीश्वरं वा विजानन्तु ॥८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) स्थित (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म को (वेनः) पाण्डित विद्वान् जन (पश्यत्) ज्ञान दृष्टि से देखता है (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्, एति) प्रलय समय में संगत होता (च) और उत्पत्ति समय में (वि) पृथक् स्थूल रूप (च) भी होता है (सः) वह (विभूः) विविध प्रकार व्याप्त हुआ (प्रजासु) प्रजाओं में (ओतः) ठाढ़े सूतों में जैसे वस्त्र (च) तथा (प्रोतः) आड़े सूतों में जैसे वस्त्र वैसे ओतप्रोत हो रहा है वही सब को उपासना करने योग्य है ॥८॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! विद्वान् ही जिसको बुद्धि बल से जानता जो सब आकाशादि पदार्थों का आधार प्रलय समय सब जगत् जिस में लीन होता है और उत्पत्ति समय में जिससे निकलता है और जिस व्याप्त ईश्वर के विना कुछ भी वस्तु खाली नहीं है उसको छोड़ अन्य को उपास्य ईश्वर मत जानो ॥८॥

प्र तदित्यस्य स्वयभुब्रह्म ऋषिः । विद्वान् देवता । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ ९ ॥

प्र। तत्। वोचेत्। अमृतम्। नु। विद्वान्। गन्धर्वः। धाम। विभृतमिति विऽभृतम्। गुहा। सत्। त्रीणि। पदानि। निहितेति निऽहिता। गुहा। अस्य। यः। तानि वेद। सः। पितुः पिता। असत् ॥ ९ ॥

496

पदार्थः—(प्र) (तत्) चेतनं ब्रह्म (वोचेत्) गुणकर्मस्वभावत उपदिशेत् (अमृतम्) नाशरहितम् (नु) सद्य (विद्वान्) पण्डितः (गन्धर्वः) यो गां वेदवाचं धरति सः (धाम) मुक्तिसुखस्य स्थानम् (विभृतम्) विशेषण धृतम् (गुहा) बुद्धौ (सत्) नित्यम् (त्रीणि) उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः काला वा (पदानि) ज्ञातुमर्हाणि (निहिता) निहितानि (गुहा) बुद्धौ (अस्य) अविनाशिनः (यः) (तानि) (वेद) जानाति (सः) (पितुः) जनकस्येश्वरस्य वा (पिता) ज्ञानप्रदानेनास्तिकत्वेन वा रक्षकः (असत्) भवेत् ॥९॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यो गन्धर्वो विद्वान् गुहा विभृतममृतं धाम तत् सन्नु प्रवोचेत् यायस्य गुहा निहितानि पदानि त्रीणि सन्ति तानि च वेद स पितुः पिताऽसत् ॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्या। य ईश्वरस्य मुक्ति साधकं बुद्धिस्थं स्वरूपमुपदिशेयुर्यथार्थतया पदार्थानां परमात्मनश्च गुणकर्म स्वभावान् विजानीयुस्ते वयोवृद्धानां पितृणामपि पितरो भवितु योग्याः सन्तीति विजानीत ॥९॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यः) जो (गन्धर्वः) वेद वाणी को धारण करने वाला (विद्वान्) पण्डित (गुहा) बुद्धि में (विभृतम्) विशेष धारण किये (अमृतम्) नाश रहित (धाम) मुक्ति के स्थान (तत्) उस (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म का (नु) शीघ्र (प्र, वोचेत्) गुणकर्म स्वभावों के सहित उपदेश करे और जो (अस्य) इस अविनाशी ब्रह्म के (गुहा) ज्ञान में (निहिता) स्थित (पदानि) जानने योग्य (त्रीणि) तीन उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय वा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानकाल हैं (तानि) उनको (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः) अपने पिता वा सर्वरक्षक ईश्वर का (पिता) ज्ञान देने वा आस्तिकत्व से रक्षक (असत्) होवे ॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् लोग ईश्वर के मुक्तिसाधक बुद्धिस्थ स्वरूप का उपदेश करें ठीक ठीक पदार्थों के और ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव को जानें वे अवस्था में बड़े पितादिकों के भी रक्षा के योग्य होते हैं ऐसा जानो ॥९॥

स न इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १० ॥

सः। नः। बन्धुः। जनिता। सः। विधातेतिविऽधाता। धामानि। वेद। भुवनानि। विश्वा। यत्र। देवाः। अमृतम्। आनशानाः। तृतीये। धामन्। अध्यैरयन्तेत्यधिऽऐरयन्त ॥१०॥

पदार्थः—(सः) (नः) अस्माकम् (बन्धुः) भ्रातेव मान्यः सहायः (जनिता) जनयिता। अत्र जनिता मन्त्र इति अ० ६ ४।५३ णिलोपः (सः) (विधाता) सर्वेषां पदार्थानां कर्मफलानां च विधानकर्त्ता (धामानि) जन्मस्थाननामानि (वेद) जानाति (भुवनानि) लोक-लोकान्तराणि (विश्वा) सर्वाणि (यत्र) यस्मिन् जगदीश्वरे (देवाः) विद्वांसः (अमृतम्) मोक्षसुखम् (आनशानाः) प्राप्नुवन्तः (तृतीये) जीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणे (धामन्) धामान्याधारभूते (अध्यैरयन्त) सर्वत्र स्वच्छया विचरन्ति ॥१०॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यत्र तृतीये धामन्नमृतमानशाना देवा अध्यैरयन्न यो विश्वा भुवनानि धामानि च वेद स नो बन्धुर्जनिता स विधाताऽस्तीति निश्चिनुत ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यस्मिञ्छुद्धस्वरूपे परमात्मनि योगिनो विद्वांसो मुक्तिसुखं प्राप्य मोदन्ते स एव सर्वज्ञः सर्वोत्पादकः सर्वदा सहायकारी च मन्तव्यो नेतर इति ॥१०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्र) जिस (तृतीये) जीव और प्रकृति से विलक्षण (धामन्) आधाररूप जगदीश्वर में (अमृतम्) मोक्षसुख को (आनशानाः) प्राप्त होते हुये (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) सर्वत्र अपनी इच्छा पूर्वक विचरते हैं जो (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकलोकान्तरों और धामानि) जन्मस्थान नामों को (वेद) जानता है (सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (बन्धुः) भाई के तुल्य मान्य सहायक (जनिता) उत्पन्न करने हारा (सः) वही (विधाता) सब पदार्थों और कर्मफलों का विधान करने वाला है यह निश्चय करो ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस शुद्ध स्वरूप परमात्मा में योगिराज विद्वान् लोग मुक्तिसुख को प्राप्त हो आनन्द करते हैं उसी को सर्वज्ञ सर्वोत्पादक और सर्वदा सहायकार मानना चाहिये अन्य को नहीं ॥१०॥

परीत्येत्यस्य स्वयंभू ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥
फिर उसी वि०॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश॥ ११॥

परीत्येति परिऽइत्य। भूतानि परित्येति परिऽइत्य। लोकान्। परित्येति परिऽइत्य। सर्वाः। प्रदिशऽइति प्रऽदिशः। दिशः। च। उपस्थायेत्युपऽस्थाय। प्रथमजामिति प्रथमऽजाम्। ऋतस्य। आत्मना। आत्मानम्। अभि। सम्। विवेश॥११॥

पदार्थः—(परीत्य) परितः सर्वतोऽभिव्याप्य (भूतानि) (परीत्य) (लोकान्) द्रष्टव्यान् पृथिवी सूर्यादीन् (परीत्य) (सर्वाः) प्रदिशः) आग्नेयाद्या उपदिशः (दिशः) पूर्वाद्याः (च) अधः उपरि च (उपस्थाय) पठित्वा संसेव्य वा (प्रथमजाम्) प्रथमोत्पन्नानां वेदचतुष्टयीम् (ऋतस्य) सत्यस्य (आत्मना) स्वस्वरूपेणान्तः करणेन च (आत्मानम्) स्वरूपमधिष्ठानं वा (अभि) आभिमुख्ये (सम्) सम्यक् (विवेश) प्रविशति॥११॥

अन्वयः—हे विद्वन्! त्वं यो भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च परीत्य ऋतस्यात्मानमभि संविवेश प्रथमजामुपस्थायात्मना तं प्राप्नुहि॥११॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यूयं धर्माचरणवेदयोगाभ्याससत्सङ्गा-

दिभिः कर्मभिः शरीरपुष्टिमात्मान्तःकरण शुद्धि च संपाद्य सर्वत्राभिव्याप्तं परमात्मानं लब्ध्वा सुखिनो भवत ॥११॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! आप जो (भूतानि) प्राणियों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त होके (लोकान्) पृथिवी सूर्यादि लोकों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त होके (च) और ऊपर नीचे (सर्वाः) सब (प्रदिशः) आग्नेयादि उपदिशा तथा (दिशः) पूर्वादि दिशाओं को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त होके (ऋतस्य) सत्य के (आत्मानम्) स्वरूप वा अधिष्ठान को (अभि, सम्, विवेश) सन्मुखता से सम्यक् प्रवेश करता है (प्रथमजाम्) प्रथम कल्पादि में उत्पन्न चार वेदरूप वाणी को (उपस्थाय) पढ़ वा सम्यक् सेवन करके (आत्मना) अपने शुद्ध स्वरूप वा अन्तःकरण से उसको प्राप्त हूजिये ॥११॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्म के आचरण, वेद और योग के अभ्यास तथा सत्संग आदि कर्मों से शरीर की पुष्टि और आत्मा तथा अन्त.करण की शुद्धि को सम्पादन कर सर्वत्र अभिव्याप्त परमात्मा को प्राप्त होके सुखी होओ ॥११॥

परीत्यस्य स्वयंभू ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी वि० ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ १२ ॥

परि । द्यावापृथिवीऽइति द्यावा पृथिवी । सद्यः । इत्वा
परि । लोकान् । परि । दिशः । परि । स्वरिति स्वः

ऋतस्य । तन्तुम् । विततमिति विऽततम् । विचृत्येति विऽचृत्य । तत् । अपश्यत् । तत् । अभवत् । तत् । आसीत् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमि (सद्यः) शीघ्रम् (इत्वा) प्राप्य (परि) सर्वतः (लोकान्) द्रष्टव्यान् सृष्टि-स्थान् भूगोलान् (परि) (दिशः) पूर्वाद्याः (परि) (स्वः) सुखम् (ऋतस्य) सत्यस्य (तन्तुम्) कारणम् (विततम्) विस्तृतम् (विचृत्य) विविधतया ग्रन्थित्वा बध्वा (तत्) (अपश्यत्) पश्यति (तत्) (अभवत्) भवति (तत्) (आसीत्) अस्ति ॥१२॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यः परमेश्वरो द्यावापृथिवी सद्य इत्वा पर्य्यपश्यद्यो लोकान् सद्य इत्वा पर्य्याभवत् । यो दिशः सद्य इत्वा पर्य्यासीद्यः स्वः सद्य इत्वा पर्य्यपश्यद्य ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य तत्सुखमपश्यद्येन तत्सुखमभवद्यतस्तद्विज्ञानमासीत्तं यथावद्विज्ञायोपासीरन् ॥१२॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वरमेव भजन्ति तन्निर्मितां सृष्टिं सुखायोपयुञ्जते त ऐहिकं पारमार्थिकं विद्याजन्यं सुखं च सद्यः प्राप्य सततमानन्दन्ति ॥१२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर (द्यावापृथिवी) सूर्य्य और भूमि को (सद्यः) शीघ्र (इत्वा) प्राप्त होके (परि, अपश्यत्) सब ओर से देखता है जो (लोकान्) देखने योग्य सृष्टिस्थ भूगोलों को शीघ्र प्राप्त होके (परि, अभवत्) सब ओर से प्रकट होता जो (दिशः) पूर्वादि दिशाओं को शीघ्र प्राप्त होके (परि, आसीत्) सब ओर से विद्यमान है जो (स्वः) सुख को शीघ्र प्राप्त होके (परि) सब ओर से देखता है जो (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (तन्तुम्) कारण को (विचृत्य) विविध प्रकार से बान्ध के (तत्) उस सुख को देखता

जिससे (तत्) वह सुख हुआ और जिससे (तत्) वह विज्ञान हुआ है उसको यथावत् जान के उपासना करो ॥१२॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर ही का भजन करते और उसकी रची सृष्टि को सुख के लिये उपयोग में लाते हैं वे इस लोक परलोक और विद्या से हुए सुख को शीघ्र प्राप्त होके निरन्तर आनन्दित होते हैं ॥१२॥

सदसस्पतिमित्य मेधाकाम ऋषिः। इन्द्रोदेवता। भुरिग्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।

सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥ १३॥

सदसः। पतिम्। अद्भुतम्। प्रियम्। इन्द्रस्य। काम्यम्।

सनिम्। मेधाम्। अयासिषम्। स्वाहा॥ १३॥

पदार्थ—(सदसः) सभाया ज्ञानस्य न्यायस्य दण्डस्य वा (पतिम्) पालकं स्वामिनम् (अद्भुतम्) आश्चर्यगुणकर्मस्वभावम् (प्रियम्) प्रीतिविषयं प्रसन्नकरं प्रसन्नं वा (इन्द्रस्य) इन्द्रियाणां स्वामिनो जीवस्य (काम्यम्) कमनीयम् (सनिम् सनन्ति संविभजन्ति सत्याऽसत्ये यथाताम् (मेधाम्) संगतां प्रज्ञाम् (अयासिषम्) प्राप्नुयाम् (स्वाहा) सत्यया क्रिया वाचा वा ॥१३॥

अन्वयः—हे मनुष्या! अहं स्वाहा यं सदसस्पतिमद्भुतमिन्द्रस्य काम्यं प्रियं परमात्मानमुपास्य संसेव्य च सनि मेधामयासिषं तं परिचर्यैतां ययूमपि प्राप्नुत ॥१३।

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं परमात्मानं सेवन्ते ते सर्वा

सेवन्ते ते सर्वा विद्याः प्राप्य शुद्धया प्रज्ञया सर्वाणि सुखानि लभन्ते ॥१३॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! मैं (स्वाहा) सत्यक्रिया वा वाणी से जिस (सदसः) सभा, ज्ञान, न्याय वा दण्ड के (पतिम्) रक्षक (अद्भुतम्) आश्चर्यगुणकर्मस्वभाव वाले (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के मालिक जीव के (काम्यम्) कमनीय (प्रियम्) प्रीति) के विषय प्रसन्न करने हारे वा प्रसन्नरूप परमात्मा की उपासना और सेवा करके (सनिम्) सत्य असत्य का जिससे सम्यक् विभाग किया जाय उस (मेधाम्) उत्तम बुद्धि को (अयासिषम्) प्राप्त होऊं उस ईश्वर की सेवा करके इस बुद्धि को तुम लोग भी प्राप्त होओ ॥१३॥

भावार्थ—जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा के सेवन करते हैं वे सब विद्याओं को पाकर शुद्ध बुद्धि से सब सुखों को प्राप्त होते हैं ॥१३॥

यामित्यमेधाकाम ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैरीश्वराद् बुद्धिर्याचनीयेत्याह ॥

मनुष्यों को ईश्वर से बुद्धि की याचना करनी चाहिये इस वि० ॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १४ ॥

याम् । मेधाम् । देवगणाऽइति देवऽगणा । पितरः । च । उपासत इत्युपऽआसते । तया । माम् । अद्य । मेधया । अग्ने । मेधाविनम् । कुरु । स्वाहा ॥ १४ ॥

पदार्थ—(याम्) मेधाम्प्रज्ञां धनं वा मेधेति धनना० निघं०

२।१० (देवगणाः) देवानां विदुषां समूहाः (पितरः) पालयितारो विज्ञानिः (च) (उपासते) प्राप्य सेवन्ते (तया) (माम्) (अद्य) मेधया (अग्ने) स्वप्रकाशकत्वेन विद्याविज्ञापक ! (मेधाविनम्) प्रशस्ता मेधाविद्यते यस्य तम् (कुरु) (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥१४॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्नध्यापक ! जगदीवर ! वा देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते तया मेधया मामद्यस्वाहा मेधाविनं कुरु ॥१४॥

भावार्थ—मनुष्याः परमेश्वरमुपास्याप्तं विद्वांसे संसेव्य शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनञ्च प्राप्तुमिच्छेयुरन्यांश्चैवं प्रापयेयुः ॥१४॥

पदार्थः—हे (अग्ने) स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से विद्या के जताने हारे ईश्वर ! वा अध्यापक विद्वन् (देवगणाः) अनेकों विद्वान् (च) और (पितरः) रक्षा करने हारे ज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धि वा धन को (उपासते) प्राप्त होके सेवन करते हैं (तया) उस (मेधया) बुद्धि वा धन से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (स्वाहा) सत्य वाणी से (मेधाविनम्) प्रशंसित बुद्धि वा धन वाला। (कुरु) कीजिये ॥१४॥

भावार्थः—मनुष्य लोग परमेश्वर की उपासना और आप्तविद्वानों की सम्यक् सेवा करके शुद्ध विज्ञान और धर्म से हुए धन को प्राप्त होने की इच्छा करें और दूसरों को भी ऐसे ही प्राप्त करावें ॥१४॥

मेधामित्यस्य मेधाकाम ऋषिः परमेश्वरविद्वांसौ देवते। निचृद्-बृहतीछन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

मेधाम् मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः। मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ १५ ॥

मेधाम् । मे । वरुणः । ददातु । मेधाम् । अग्निः । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । मेधाम् । इन्द्रः । च । वायुः । च । मेधाम् । धाता । ददातु । मे । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(मेधाम्) शुद्धां धियं धनं वा (मे) ह्यम् (वरुणः) श्रेष्ठः (ददातु) (मेधाम्) (अग्निः) विद्याप्रकाशितः (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकः (मेधाम्) (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् (च) (वायुः) बलिष्ठो बलप्रदः (च) (मेधाम्) (धाता) सर्वस्य संसारस्य राज्यस्य (ददातु) (मे) मह्यम् (स्वाहा) धर्म्मया क्रिया ॥१५॥

अन्वय—हे मनुष्याः । यथा वरुणः परमेश्वरो विद्वान् वा स्वाहा मे मेधां ददातु अग्निः प्रजापतिर्मेधां ददातु इन्द्रो मेधां ददातु वायुश्च मेधां ददातु धाता च मे मेधां ददातु तथा युमष्यमपि ददातु ॥१५॥

भावार्थ—मनुष्या यथाऽत्मार्थं गुणकर्मस्वभावं सुखञ्चेच्छेयुस्तादृशमेवाऽन्यार्थम् । यथा स्वस्योन्नतये प्रार्थयेयुस्तथा परमेश्वरस्य विदुषाञ्चसकाशादन्येषामपि प्रार्थयेयुर्नकेवल प्रार्थनामेव कुर्य्युः किं तर्हि सत्याचरणमपि । यदा यदा विदुषां समीपं गच्छेयुस्तदा तदासर्वेषां कल्याणाय प्रश्नोत्तराणि कुर्य्युः ॥१५॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (वरुणः) अति श्रेष्ठ परमेश्वर वा विद्वान् (स्वाहा) धर्मयुक्त क्रिया से (मे) मेरे लिये (मेधाम्) शुद्ध बुद्धि वा धन को (ददातु) देवे (अग्निः) विद्या से प्रकाशित (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (मेधाम्) बुद्धि को देवे (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् (मेधाम्) बुद्धि को देवे (च) और (वायुः) बलदाता बलवान् (मेधाम्) बुद्धि को देवे (च) और (धाता) सब संसार वा राज्य का धारण करने हारा ईश्वर वा विद्वान् (मे) मेरे लिये बुद्धि धन को (ददातु) देवे वैसे तुम लोगों को भी देवे ॥१५॥

भावार्थः—मनुष्य जैसे अपने लिये गुण कर्म स्वभाव और सुख

को चाहें वैसे औरों के लिये भी चाहें। जैसे अपनी अपनी उन्नति की चाहना करें वैसे परमेश्वर और विद्वानों के निकट से अन्यों की उन्नति की प्रार्थना करें। केवल प्रार्थना ही न करें किन्तु सत्य आचरण भी करें। जब जब विद्वानों के निकट जावें तब तब सबके कल्याण के लिये प्रश्न और उत्तर किया करें ॥१५॥

इदं म इत्यस्य श्रीकाम ऋषिः। विद्वाद्राजानौ देवते। अनुष्टप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर उसी वि०॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्। मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥ १६॥

इदम्। मे। ब्रह्म। च। क्षत्रम्। च। उभेऽइत्युभे। श्रियम्। अश्नुताम्। मयि। देवाः। दधतु। श्रियम्। उत्तमामित्युत्ऽतमाम्। तस्यै। ते। स्वाहा॥ १६॥

पदार्थः—(इदम्) (मे) मम (ब्रह्म) वेदेश्वरविज्ञानं तद्वत्कुलम् (च) (क्षत्रम्) राज्यं धनुर्विद्या क्षत्रियकुलम् (च) (उभे) (श्रियम्) राजलक्ष्मीम् (अश्नुताम्) प्राप्नुताम् (मयि) (देवाः) विद्वांसः (दधतु) धरन्तु (श्रियम्) शोभां लक्ष्मीं च (उत्तमाम्) अतिश्रेष्ठाम् (तस्यै) श्रियै (ते) तुभ्यम् (स्वाहा) सत्याचरणया क्रियया ॥१६॥

अन्वयः—हे परमेश्वर! भवत्कृपया हे विद्वन्! तव पुरुषार्थेन च स्वाहा मे ममेद ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुतां यथा देवा मय्युत्तमां श्रियं दधतु तथाऽन्येष्वपि। हे जिज्ञासो! ते तुभ्यं तस्यै वयं प्रयतेमहि ॥१६॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये मनष्याः परमेश्वराज्ञापालनेन

विदुषां सेवया सत्कारेण सर्वेषां मनुष्याणां मध्याद् ब्राह्मणक्षत्रियौ सुशिक्ष्य विद्यादि सद्गुणैः संयोज्य सर्वेषामुन्नतिं विधाय स्वात्मवत्सर्वेषु वर्त्तेरन् ते सर्वपूज्याः स्युरिति ॥१६॥

अत्र परमेश्वरविद्वत्प्रज्ञाधनप्राप्त्युपायगुणवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! आपकी कृपा और हे विद्वन् ! तेरे पुरुषार्थ से (स्वाहा) सत्याचरणरूप क्रिया से (मे) मेरे (इदम्) ये (ब्रह्म) वेद ईश्वर का विज्ञान वा इनका ज्ञाता पुरुष (च) और (क्षत्रम्) राज्य धनुर्वेद विद्या और क्षत्रिय कुल (च) भी ये (उभे) दोनों (श्रियम्) राज्य की लक्ष्मी को (अश्नुताम्) प्राप्त हों जैसे (देवाः) विद्वान् लोग (मयि) मेरे निमित्त (उत्तमाम्) अतिश्रेष्ठ (श्रियम्) शोभा वा लक्ष्मी को (दधतु) धारण करें। हे जिज्ञासु जन ! (ते) तेरे लिये भी (तस्यै) उस श्री के अर्थ हम लोग प्रयत्न करें। १६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञापालन और विद्वानों की सेवा सत्कार से सब मनुष्यों के बीच से ब्राह्मण क्षत्रिय को सुन्दर शिक्षा विद्यादि सद्गुणों से संयुक्त और सबकी उन्नति का विधान कर अपने आत्मा के तुल्य सब में वें वे सब को पूजने योग्य होते हैं ॥१६॥

इस अध्याय में "परमेश्वर विद्वान् और बुद्धि तथा धन की प्राप्ति के उपायों का वर्णन होने से" इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीयत परमहंस परिव्राजकाचार्याणां श्रीयत परम विदुषां विरजानन्द सरस्वती स्वामिनां शिष्येण श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य्येण श्रीमद्दयानन्द दयानन्द सरस्वती स्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये छात्रिंशोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ ●

अध्याय के मन्त्रों का स्पष्टीकरण

[लेखक--स्वामी वेदानन्द वेदवागीश, प्रस्तोता श्रीमद्दयानन्दार्ष विद्यापीठ, द्वारा महाविद्यालय, गुरुकुल झज्जर-रोहतक]

तदेवाग्नि :—यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय का यह प्रथम मन्त्र वेदों की स्वतः प्रामाणिकता में ठोस प्रमाण है। आदि सृष्टि में जब वेदों का आविर्भाव हुआ, तब इनसे अतिरिक्त कोई ग्रन्थ नहीं था। ऐसी दशा में यह आवश्यक था कि कोई ऐसी विधि होनी चाहिये, जिससे वेद मन्त्रों के अर्थ स्वतः निकाले जा सकें। वह विधि यह ही सुसङ्गत है कि मन्त्रों के शब्दों के विशेषणादि में जावें, और पर्यायवाचा शब्द दिये जावें। विशेषणों में जैसे "यमेन वायुना" यहां यम का अर्थ वायु है। वैसे ही पर्यावाची शब्दों में अन्यत्र जहां इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुरथी० यह मन्त्र है, उसी प्रकार "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद-वायु० यह मन्त्र है। लोक में हम यह कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे कि जिसे अग्नि कहा जाता है, उसी को आदित्य कह दें, वायु कह दें, चन्द्रमा कह दें, शुक्र कह दें, ब्रह्म कह दें आपः वा प्रजापतिः कह दें। यदि ऐसा हो जावे तो बड़ी भारी भ्रान्ति हो जावेगी और किसी प्रकार का कोई व्यवहार नहीं साधा जा सकेगा। इसलिये इसी मन्त्र में यह खोजना पड़ेगा कि ये नाम किसके हैं। जो नाम अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आपः और प्रजापति लोक में प्रसिद्ध हैं, निश्चय रूप से यह कहा जा सकता है कि इनमें से कोई भी शब्द यह नहीं बता सकता कि ये शब्द किस शब्द के पर्यायवाची दिये जा रहे हैं। हां इसी मन्त्र में एक शब्द "ब्रह्म" आया है। ब्रह्म भगवान् के बनाये गये लौकिक पदार्थों में किसी का भी नाम प्रसिद्ध नहीं है। ब्रह्म शब्द का उच्चारण होते ही सृष्टि के बनाने वाले ईश्वर का स्मरण हो आता है। अतः ब्रह्म शब्द यह निर्णय करेगा कि ये किसके

नाम हैं और उसने यही निर्णय किया है कि ये अग्नि आदि नाम ब्रह्म (ईश्वर) के ही हैं।

इसलिये वेद मन्त्रों में जहां भी अग्नि शब्द आता है, वहां यह देखना आवश्यक हो जाता है कि यह भौतिक अग्नि का प्रतिपादक है अथवा चेतन ब्रह्म आदि का।

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुये "अग्निः" आदि सभी शब्दों को ब्रह्मपरक लिया है और निरुक्तियां भी ब्रह्मपरक ही की हैं। "तत्" शब्द इस मन्त्र में "अग्नि" आदि प्रत्येक पद के साथ आया है। "तत्" पद अप्रत्यक्ष का परामर्श किया करता है। इस समय इस मन्त्र का अर्थ करते हुये सभी मन्त्र अप्रत्यक्ष (दृष्टि के सामने नहीं) हैं। इसलिये इस मन्त्र से पहले आये ३१ अध्यायों के मन्त्रों में तथा इससे आगे ४० वें अध्याय तक के मन्त्रों में जहां कहीं भी अग्नि आदि शब्द आवें। अथवा ऋग्वेद आदि मन्त्रों में आवें और अर्थ--योग्यता यदि उसमें ब्रह्म परक दिखाई देती हो, तो अग्नि आदि का अर्थ परमात्मा होगा। जैसे "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्" मन्त्र में स्पष्टतया लक्षित होता है। महर्षि दयानन्द ने "तत्" शब्द के जो सर्वज्ञ—सर्वव्यापि आदि सोलह अर्थ किये हैं, वे अन्यत्र स्थलों में आये ब्रह्म के गुणों के कारण ही किये हैं। यह वैदिक पदों से वैदिक पदों का अर्थ करना हुआ।

एक भाष्यकार के लिये यह आवश्यक है, कि उसे चारों वेद कण्ठस्थ हों, तब ही वह वेद का अर्थ वेद से कर सकता है। यह ही वेद का "स्वतः प्रामाण्य" है। जैसे व्याकरण में अष्टाध्यायी स्वतः प्रमाण है और किसी भी शङ्का का उत्तर उसी के सूत्रों से दिया है, वैसे ही वेद की किसी शंका का उत्तर भी वेद से देना ही अनिवार्य है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो अपना भाष्य करते हुये ऐतरेय

शतपथ वा उपनिषद् आदि के प्रमाण दिये हैं, वे इसलिये नहीं दिये कि इन प्रमाणों से वह अर्थ पुष्ट होता है, अपितु इसलिये उद्धृत किये हैं कि जैसा मैं अर्थ कर रहा हूं, वैसा अन्य ऋषि भी (जो ऐतरेय आदि के रचने वाले हैं) मानते हैं।

बहुत से स्थलों पर ऋषि दयानन्द कोई प्रमाण उद्धृत नहीं करते, तो यह उनकी मनमानी नहीं है, अपितु उस अर्थ की पुष्टि में अन्यत्र मन्त्र उपलब्ध होते हैं। जैसे इसी मन्त्र में "आपः" शब्द आया है, यद्यपि आपः शब्द आप्लृ व्याप्तौ धातु से निष्पन्न होता है, परन्तु इतने मात्र से ऋषि दयानन्द सन्तुष्ट नहीं होंगे; क्योंकि अभी यह परतः प्रमाण कोटि में ही है; अतः व्यापकता के अर्थ निर्धारण में उन्हें अन्यत्र मन्त्रों के ही शरण में जाना पड़ता है, जैसे उदाहरणार्थ— यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में "स पर्यगात् शुक्रम्" पद आये हैं। ये जहां ब्रह्म की व्यापकता बताते हैं, वहां "शुक्र" यह नाम भी बताते हैं। और "शुक्र" पद "तदेवाग्निस्तदादित्यः" मन्त्र में भी आया है। अतः किये गये अर्थ की वैदिक पदों से ही पुष्टि हुई।

मन्त्र में दो बार "एव" शब्द और एक बार "उ" शब्द आया है। ये तीनों शब्द "निश्चय" के गमक हैं। जो कह रहे हैं कि वह ब्रह्म ही अग्नि है, वह ब्रह्म ही आदित्य हैं और वह ही वायु चन्द्रमा आदि हैं। क्या फिर लोक में प्रसिद्ध भौतिक पदार्थ इस नाम वाले नही हैं ? हैं, परन्तु मुख्य रूप से सभी कुछ ब्रह्म है, वह अनन्त गुण वाला है। उसने अपने अनन्त गुणों में से कुछ कुछ गुण अग्नि आदि पदार्थों में डाले हैं और उन्हीं गुणों के कारण अग्नि आदि भौतिक पदार्थों के नाम पड़े हैं। भिन्न भिन्न गुणों वालों की रचना से संसार के सभी पदार्थ उसी के अन्तर्भूत हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड के असंख्य पदार्थों में ब्रह्म के ही गुणों का समावेश है। इसलिये यदि सबसे अधिक कोई वस्तु सत्करणीय वा उपासनीय है, तो वह ब्रह्म ही है।

इसी कारण महर्षि ने भावार्थ में लिखा है—"उसी की उपासना फलवाली है ऐसा जानो।" ॥१॥

"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" मन्त्र २।

प्रकरण परमात्मा का है। अतः इस मन्त्र में परमात्मा का नाम "पुरुष" आया है। ३१ वें मन्त्र अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही उस ब्रह्म को "पुरुष" नाम से पुकारा गया है। मन्त्र है—सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। इस मन्त्र वाले अध्याय का ही नाम भी "पुरुष सूक्त" है। अतः यह निर्णीत है कि यहां पुरुष का अर्थ परमात्मा ही है, महर्षि ने मन्त्र में जिनकी उत्पत्ति पुरुष से बताई है, वह लौकिक पुरुष (मनुष्य) से सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि मन्त्र का दूसरा चरण "नैनमूर्द्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्" यह उद्घोष कर रहा है कि उसे कोई किधर से भी पकड़ नहीं सकता। यहां न पकड़े जाने वाले पदार्थ का निर्देश है और पकड़ने वाले का सङ्केत है पकड़ने वाले तो हम लोग ही हो सकते हैं, जो पकड़ नहीं सकते। अतः दूसरा वस्तु ब्रह्म ही है और उसे ही यहां मन्त्र में "पुरुष" नाम से कहा गया है। यहां "पुरुष" ऐसा पद डाला गया है, जो उसकी व्यापकता को बताता है 'पुर' ब्रह्माण्ड, उसमें शयन करने वाला पुरुष कहलाया। इसीलिये वह पकड़ से बाहर है।

यहां पुरुष इस पद का विशेषण विद्युत् आया है—विद्युतः पुरुषात्। विद्युत् का अर्थ होता है—विशेष दीप्तिमान्। जिन्हें ईश्वर प्रत्यक्ष है, वे उसे विशेष दीप्तिमान् देखते होंगे, जिन्हें वह साक्षात् नहीं हुआ है, उन्हें भी उसे प्रकाशमान् समझना चाहिये। ऋग्वेद १-५८-२ में जीवात्मा को भी प्रकाशमान् बताया गया है, अतः ईश्वर का देदीप्यमान् होना नितान्त आवश्यक है। इसे "आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्" भी कहा गया है आदित्य—सूर्य के

वर्ण के समान वर्ण वाला वह है। सूर्य जलाता है तब वह क्यों नहीं जलाता ? इसका उत्तर मैं यही समझ पाया हूं कि वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से नहीं जला पाता। जैसे अत्यन्त सूक्ष्म व्यापक विद्युत् भी किसी को नहीं जला पाती। अग्निहोत्र के मन्त्रों में रात्रि को इन्द्रवती कहा गया है– "रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणः।" इन्द्र विद्युत् का नाम है। इन्द्रवती का अर्थ हुआ—बहुत बिजुली वाली रात्रि। पर वह न हमें प्रकाश देती दिखाई देती है और न तपाती हुई। जैसे हम मन्त्र के आधार पर वा वैज्ञानिक स्तर पर आकर रात्रि में गुप्त विद्युत् को स्वीकार करते हैं, वैसे ही भगवान् को भी मन्त्र के आधार पर गुप्त विद्युत्–दीप्तिमान् मानते हैं। इसलिये यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में आये मन्त्र—यो सावादित्ये पुरुषः सो सावहम्" की सङ्गतिः युक्ति युक्त है कि आदित्य–सूर्य में जो पुरुष—विद्युत् चमक है वह मैं भगवान् ही हूं। इसलिये भगवान् चमकदार है। यह चमक जब प्रकृति के स्थूल परमाणु–प्रञ्जों को प्रकाशित करती है, तब वे संसार को तपाते हैं। यह हम पहले स्वीकार कर चुके हैं कि सब पदार्थों में गुण ब्रह्म से ही आते हैं।

"न तस्य प्रतिमा अस्ति" इस तीसरे मन्त्र में कुछ पौराणिक पण्डित जो मूर्ति पूजा के पोषक हैं, ईश्वर की मूर्ति सिद्ध करने के लिए "नतस्य" ऐसा एक पद स्वीकार करते हैं। यद्यपि पद पाठ में भी संहिता पाठ के समान ही दो पद पृथक् दिये गए हैं। परन्तु पद पाठ को यदि पौरुषेय भी मान लें और छापे की भूल से एक पद के स्थान पर दो पद हो गए हैं, ऐसा मान लें, तो संहिता पाठ से किसी का विरोध अपौरुषेय में होने के कारण इस पद की परीक्षा आवश्यक हो जाती है। पूर्वा पर प्रसङ्ग से एवं इस मन्त्र में प्रयुक्त "हिरण्यगर्भ इत्यषः" मा मा हिंसीदित्येषा "और यस्मान्न जात इत्येषः" तीन मन्त्रों की इन प्रतीकों से सम्पूर्ण मन्त्रों पर जब विचार किया जाता है, तो "नतस्य" ऐसा एक पद युक्तिसङ्गत नहीं दीखता। "न तस्य"

एक पद मानने में 'न' अनुदात्त चला जायेगा, जबकि 'न' निषेधात्मक स्वीकार करने में अव्यय होने से उदात्त होगा। मन्त्र में इसे उदात्त ही प्रकट किया गया है। अतः यह निश्चय है कि तीन मन्त्रों में प्रतिपादित विषय और 'न तस्य" के स्वर सञ्चार से ऐसे दो पद ही हैं। स्वर दिखाया जा चुका है। मन्त्र प्रतीकों के पूरे मन्त्र उद्धृत करने एवं उनके अर्थों पर दृष्टिपात करने से स्वयं ही पाठक निर्णय कर लेंगे कि जिस भगवान् का महान् यश है उसकी क्या कोई प्रतिमा बना सकता है? अब नीचे क्रमशः वे मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं :—

"हिरण्यगर्भ इत्येष।" इस प्रतीक का मन्त्र है—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। (य० २५-१०)

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों को जो अपने भीतर रक्खे हुवे हैं, और जो सृष्टि से पूर्व विद्यमान था। प्रकट हुवे सभी प्राणीमात्र का स्वामी है, जो पृथिवी, सूरज आदि को बनाकर धारण करता है। ऐसे व्यापक भगवान् की प्रतिमा भला कैसे बनाई जा सकेगी। यदि कोई यह कहे कि जब वह सूर्य आदि को अपने गर्भ में रखता है, तो उसकी आकृति होनी आवश्यक है। इसके समाधान में हमारा निवेदन यह है कि इस प्रकार की प्रतिमा कोई नहीं बना सकता, जिसके भीतर सूर्य-चन्द्र आदि रक्खे गये हों और न ही ऐसी कहीं आकृति दिखाई देती है। अतः उसे निराकार सूक्ष्म मानना पड़ेगा, ऐसा स्वीकार करने में कहीं कोई क्षति नहीं आती। ऐसे हिरण्यगर्भ सूक्ष्म निराकार में स्थूल वस्तु का प्रवेश हो जाता है, तथा स्थूल वस्तु में सूक्ष्म निराकार समविष्ट हो जाता है, जैसे आकाश (सूक्ष्म) में सब पदार्थ हैं और सब पदार्थों में आकाश है इनमें पारस्परिक कोई बाधा नहीं है।

इसी अनुवाक में २५वें अध्याय का ११वां मन्त्र है—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
(२५-११)

१२वां मन्त्र है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र ँ रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्यबाहू कस्मैदेवाय हविषा विधेम ।।
(२५-१२)

१३वां मन्त्र है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
(२५-१३)

मन्त्र प्रसिद्ध हैं और अर्थ भी सुगम है । इन मन्त्रों में भगवान् का अनुपम यश कीर्ति, महिमा का बखान किया गया है। अतः ऐसे महान् यशस्वी की मूर्ति नहीं बनाई जा सकती । उसका कोई आकार नहीं हो सकता । जो सबको बनाता है, उसे कौन बना सकता है । मनुष्य का आकार वा साधन इतने सीमित हैं कि उसकी आकृति—शरीर बनाने में सब परिमित हैं । इसलिए आलंकारिक रीति से उसका शरीर जहां कहीं उपनिषद् आदि ग्रन्थों में आता है । उसके सूर्य और चन्द्रमा दो नेत्र बताएं गए हैं। अभी अध्याय २५ मन्त्र १२ में प्रदिशाएं उसके बाह रूप में वर्णित की गयी हैं ।

मन्त्र में "मा मा हिंसीदित्येषा" यह प्रतीक है। पूरा मन्त्र इस प्रकार का है :—

मा मा हिꣳ सीज्जनितां यः पृथिव्या
यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट् ।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै
देवाय हविषा विधेम ॥१२.१०२॥

इस मन्त्र में भी ईश्वर के व्यापक होने का प्रमाण है, क्योंकि वह पृथिवी को जन्म देकर और उसमें व्याप्त होता हुआ द्युलोक में व्यापक है। जल और चन्द्रमा को वही उत्पन्न करता है।

"न तस्य प्रतिमा अस्ति" इस मन्त्रांश की पुष्टि में दो मन्त्रों के अनुवाक की एक और प्रतीक उधृत है, जिसमें पहला मन्त्र है :—

"यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति
यऽआविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सँरराणस्त्रीणि
ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥८.३६॥

इस मन्त्र में भी उसके यश का वर्णन है। जिसमें बताया गया है कि भगवान् से भिन्न अन्य कोई उत्तम प्रसिद्ध नहीं है। वह सब लोकलोकान्तरों में ओत-प्रोत है। जड़ चेतन सब जगत् को उत्पन्न करके उसका स्वामी है और चेतन प्रजाओं को उसके उपयोग का प्रत्येक पदार्थ उसने प्रदान किया हुआ है। वे पदार्थ हैं—इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, जल अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम। ये सोलह कलाएं हैं इसलिए मन्त्र में उसका नाम षोडशी है।

ऐसे महान् ऐश्वर्य सम्पन्न की मूर्ति कैसे बन सकती है, जो सभी का आधार और प्रदाता है। क्योंकि व्यापक परमात्मा का शरीर व्यापक बनाया जाना किसी से भी सम्भव नहीं है। न ऐसा अपने

लिए भगवान् ही कर सकता है। शरीरों की रचना तो ईश्वर के अतिरिक्त और कोई कर ही नहीं सकता, जब उसने अपना शरीर नहीं बनाया, तब उसकी प्रतिकृति मूर्ति कैसे बन सकती है ?

इस अनुवाक में दूसरा मन्त्र है—

इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा
तौ ते भक्षं चक्रतुरग् एतम् ।
तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुवाणा
सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥८.३७॥

इस मन्त्र में ईश्वर के यश का वर्णन ऋषिदयानन्द ने नहीं किया, किन्तु इसे प्रमाणरूप में अनुवाक के अन्तर्गत माना है; अतः यह विचारणीय है।

इस प्रकार इन सभी मन्त्रों में भगवान् की महत्ता का स्पष्ट वर्णन है। इसी से उसकी कीर्ति है। यश है। ३२वें अध्याय के "न तस्य प्रतिमा अस्ति" इस तीसरे मन्त्र में भगवान् ने प्रतिमा का निषेध करने के लिए मन्त्रों की प्रतीकें उद्धृत करके विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। एक व्याख्याकार के लिए भी यह मन्त्र दिशा प्रदान करता है कि मन्त्रों के शब्दों की व्याख्या करते समय तत्सम्बद्ध मन्त्रों वा मन्त्रांशों को प्रस्तुत करना चाहिये।

३२ वें अध्याय का चतुर्थ मन्त्र है :—एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः .....

जिस परमात्मा का पहले वर्णन आ चुका है, उसके स्वरूप का वर्णन दूसरे प्रकार से इस मन्त्र में है। "देवः" शब्द का अर्थ महर्षि दयानन्द ने 'दिव्यस्वरूप' किया है। दिव्य वस्तु आकर्षक लुभावना हुआ करता है। इसी अध्याय के प्रथम मन्त्र में पंडित "अग्निः" शब्द का अर्थ महर्षि ने "स्वप्रकाश" भी किया है। और

स्वप्रकाश ईश्वर को बताया है। अतः निश्चय है कि वह दिव्य प्रकाश वाला है। यह उसका "स्वरूप" अपना रूप है। रूप आंखों का विषय है और वह रूप सूर्य से आता है। पर सूर्य में जो दिव्यता है, वह ईश्वर से ही है। पदार्थों में गुणों का प्रवेश उसी से हुआ है। यह पूर्व वर्णित किया जा चुका है। जैसा कि चालीसवें अध्याय में आता है—यो आदित्ये पुरुषः सो सावहम्॥ किन्तु भगवान् का रूप आंखों का विषय नहीं है उसे ज्ञान की आंखें ही देख सकती हैं। इसलिये अग्निः का अर्थ जहां ऋषिः ने स्वप्रकाश किया, वहां ज्ञान-स्वरूप भी किया है।

अध्याय के इस चतुर्थ मन्त्र में "सर्वतो मुखः" शब्द आया है। सर्वतो मुखः का अर्थ है सब ओर मुख वाला। ऋषि ने भी लिखा है—"सर्वतो मुखाघवयवा यस्य सः" इस कथन से वह देहधारी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि इसी मन्त्र में "प्रदिशो ऽनु सर्वाः" शब्द आये हैं। जिनका अर्थ है—ईश्वर दिशाओं, अवान्तर दिशाओं और ऊपर नीचे व्याप्त है। जो सर्वत्र व्यापक है, उसके सभी ओर मुखादि अवयव इसलिये नहीं हो सकते; क्योंकि उसे प्रत्यङ् भी कहा गया है। 'प्रत्यङ्' का अर्थ है—प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त होने वाला। अतः जो सर्वत्र दूध में घी के समान सत्ता रूप से विद्यमान है, जिससे एक कण भी रिक्त नहीं, उसके मुख आदि अवयव होना अशक्य है। इसलिये महर्षि दयानन्द ने मन्त्रार्थ के भावार्थ में लिखा है कि इन्द्रियों के विना इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता है। यह ही "सर्वतोमुखः" का तात्पर्य है।

"पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः" केवल इन पदों को देखकर उसे उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने से पूर्वापर का विरोध होगा। इसलिये ऋषि दयानन्द ने "जातः" का अर्थ प्रकट होना लिखा है और 'गर्भे' का अर्थ अन्तःकरण किया है। मन्त्र में "पूर्वः" शब्द भी आया है, जिसका अर्थ प्रथमः किया है। ईश्वर

अन्तःकरण में प्रथम प्रकट होता है। अन्तःकरण व्यापक भी है और परिच्छिन्न भी। व्यापक अन्तःकरण को महत्तत्व भी कहते हैं, यह प्रकृति की साम्यावस्था का प्रथम परिणाम है। सृष्टि निर्माण करते समय अन्तःकरण–महत्तत्व में ही वह आगे का सब कार्य करने के लिये ईक्षण करता है—प्रकट होता है। इसीलिये कहा है–"बुद्धि पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" वेदों में वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है। वेदों का नित्यज्ञान, जो कि ईश्वर का अपना ही है, प्रकृति के इस पहले ही परिणाम में प्रकट हो जाता है। यह ही सृष्टि की रचना में ईश्वर का प्रथम प्रकट होना है। इसी व्यापक अन्तःकरण–महत्तत्व से मनुष्यों के अन्तःकरण सम्बद्ध हैं। अतः अत्यन्त स्वच्छ मानव अन्तःकरण में ईश्वरीय ज्ञान छलक आता है।

'तिष्ठति' शब्द मन्त्र में आया है, जिसका अर्थ 'वर्तते' किया है। यही यहां सङ्गत है। क्योंकि गति निवृत्ति ईश्वर में सम्भव नहीं है। जब गति नहीं, तो निवृत्ति कहां से होगी। "जातः जनिष्यमाणः" के अर्थ भी इसी प्रकार ठीक ही किये हैं, क्योंकि लौकिक ढंग की उत्पत्ति ईश्वर में नहीं है ॥४॥

"यस्माञ्जातं न पुरा किञ्च नैव" इस पांचवें मन्त्र में कुछ वक्तव्य नहीं है; क्योंकि यह स्पष्ट है। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा "इस छठे मन्त्र में "कस्मै देवाय हविषा विधेम" इस पर कुछ कहना है। वह यह है कि आर्ष शैली से वे पढ़ने वाले बहुत से यहां यह आक्षेप करते हैं कि कस्मै का अर्थ सुखस्वरूपाय कैसे हो गया? इसलिये इसका अर्थ होगा—हम किस देव की परिचर्या करें? जिसने ये पृथिवी आदि निर्माण कर दृढ़ किये हैं। अर्थात् उनके लिये यहां इस जगत् का सञ्चालक अनिर्णीत है।

इसका समाधान यह है कि किम् शब्द के तीन अर्थ हैं—प्रश्न, आक्षेप और प्रजापति। यहां प्रजापति अर्थ वाला कि शब्द लिया गया है और उसे विभक्ति परे रहने पर "किमः कः" इस पाणिनि

सूत्र से 'क' आदेश हुआ है। और सर्वनाम मानकर 'स्मै' आदेश होकर 'कस्मै' बना। अर्थ हुआ प्रजापति के लिये। यहां यह आक्षेप हो सकता है कि जब 'क' का अर्थ प्रजापति है, तो यह नाम हुआ। नाम की सर्वनाम संज्ञा होती नहीं। तब किम् से 'क' कैसे बनेगा? इसका उत्तर ऋषि दयानन्द ने दिया है—"वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति" इति सर्वनाम कार्यम् (अध्याय १२ मन्त्र १०२)

महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनि के सूत्र 'कस्येत' ४, २, २५ पर लिखते हैं कि 'क' शब्द किम् के स्थान पर 'क' आदेश न भी माना जाये और स्वतन्त्र रूप से यह 'क' ही हो, तो भी कोई क्षति नहीं है। तब वे इस प्रकार समाधान करते हैं कि सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा की है। सर्व प्रजापति का नाम है और 'क' प्रजापति को कहते हैं। यह समाधान भाष्यकार ने 'सर्वनाम' संज्ञा को अन्वर्थ मानकर किया है। सर्वेषां नाम—सर्वनाम। सब पदार्थों के नाम उसके भी नाम हैं: इस प्रकार 'सर्वस्मै' यह प्रयोग ठीक है। अर्थ हो जायेगा–प्रजापति के लिये।

ऋषि दमानन्द ने (कस्मै) का अर्थ सुखस्वरूपाय किया है। सुखस्वरूप वह प्रजापति ही है। 'क' सुखवाची भी हैं। इसलिये 'नाकः' पद का अर्थ ऋषि ने 'अविद्यमान दुःखो मोक्षः' किया है। निरुक्तकार यास्क कहते हैं—कमिति सुख नाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येन। (२, ४, १४) अर्थात् 'क' का अर्थ सुख है। 'अक' का अर्थ दुःख है और 'नाक' का अर्थ दुःख का अभाव मोक्ष है।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभावे अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभति..... ॥७॥

इस सातवें मन्त्र में सूर्य, और पृथिवी और परमात्मा के विषय में प्रकाश डाला गया है।

क्रन्दसी—इस शब्द से सूर्य और पृथिवी को अत्यन्त गुणशाली बताया गया है।

अवसा—इन दोनों का अस्तित्व सबकी रक्षा के लिये है। धारिके—दोनों धारण करने वाले हैं। सूर्य अनेक पृथिवियों को अपने आकर्षण में रखकर उन्हें धारित करता है तथा पृथिवी, उस पर स्थित सभी पदार्थों को धारण करती है।

"मनसा रेजमाने" सूर्य भी चल रहा है और पृथिवी भी। सूर्य स्वयं घूमता हुआ अपने राशिपथ, वृष, मेष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन पर चलता हुआ उत्तर की ओर छः मास तथा दक्षिण को ओर छः मास तक चलता है। इस प्रकार की सूर्य की गति "मनसा" विज्ञान के आधार पर है। इसी प्रकार पृथिवी भी विज्ञान से ही अपना चक्र काटता हुई सूर्य के चारों ओर वर्ष भर में घूम जाती है। इस प्रकार सूर्य और पृथिवी के भ्रमणों का मार्ग निश्चित करने वाला ईश्वर है और जिस विज्ञान से यह सब कुछ हो रहा है, उसका भी आविष्कर्त्ता ईश्वर है।

"सूर उदितः" सूर्य अत्यन्त उत्कृष्ट विज्ञान को प्राप्त है। जिससे इस में अनेक पृथिवियों के आकर्षण तथा धारण करने की शक्ति आती है। प्रतिदिन प्रकाश के क्षय की पूर्ति स्वतः विज्ञान से होती रहती है। वर्षा विज्ञान का कारण यही है। चन्द्रमा को एक एक कला से प्रतिदिन बढ़ाकर पूर्णिमा तथा एक एक कला से क्षीण करके अमावास्या पक्षों का निर्माता अपने किरण क्रमशः फेंक कर तथा सिकोड़कर करने वाला यही है। यह सूर्य का उदय (उत्कर्ष) ईश्वर से ही है, जिसके लिये मन्त्र में यत्र शब्द आया है। जड़ पदार्थों में सूर्य ईश्वर की सबसे उत्कृष्ट रचना है। "विभाति" यह स्वयं भी देदीप्यमान है और सब पदार्थों को रूप प्रदान करके प्रकाशित करता है। "आपः" आकाश इसी से प्रकाशित है। आकाशीय व्यापक "आपः" जल भी इसी से प्रकाशित है। इस सब बात को वेदवेत्ता

अध्यापक और उपदेशक "अभ्यैक्षेताम्" अच्छे प्रकार देखते हैं। इसलिये ये ही भगवान् को साक्षात् कर सकते हैं।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सञ्च विचैति.....॥८॥

जिससे जगत् आविर्भूत होता है और जिसमें विलीन होता है। वह सब प्राणी और अप्राणी प्रजा—(उत्पन्न वस्तुओं में) वस्त्र में तन्तुओं के समान ओत प्रोत है। ऐसे विचित्र भगवान् को वेदवेत्ता विद्वान् पण्डित ही जानने में समर्थ है। दूसरे नहीं। विद्वान् उसे प्राप्त करने हेतु कहीं नहीं जाता। 'निहितं गुहा' बुद्धि में स्थित ईश्वर को अपने शरीर में ही खोजता है। मूर्खों के समान खोजने साक्षात् करने हेतु भटकता नहीं फिरता। वा मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा करके उसे शरीर से बाहर प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता।

ईश्वर बुद्धि में भी स्थित है और गुप्त कारण में भी। गुप्त कारण दो लिये जा सकते हैं—प्रथम प्रकृति और दूसरा जीव क्योंकि प्रकृति भी गुप्त है और जीव भी गुप्त हैं। स्पष्टतः प्रकट नहीं हैं। संसार के निर्माण में प्रकृति भी कारण है और जीव भी। क्योंकि जीव के कारण ही जीव को भोग और मुक्ति प्रदान करने हेतु ही जगत् का निर्माण हुआ है।

निहितम् जो पद मन्त्र में आया है, उसका अर्थ स्थितम् है। अतः निहितं शब्द के पश्चात् स्थितं शब्द का प्रयोग ऋषि भाष्य में होना अपेक्षित है। मुद्रण की भूल प्रतीत होती है। महर्षि जी ने मन्त्र में पठित 'प्रजासु' का अर्थ प्रकृति जीवादिषु किया है। आदि शब्द से सांसारिक पदार्थ बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्राणि, इन्द्रिय और सब जगत् लिया जा सकता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि ईश्वर प्रकृति—जीव (जो कि सत् और नित्य हैं) से लेकर उत्पन्न हुये पदार्थों में भी सर्वत्र विद्यमान हैं। अब विचारणीय यह है कि

प्रकृति और जीव जो कि नित्य पदार्थ है, वे प्रजा कैसे कहे गये ? प्रजा का अर्थ होता है—प्रकर्षेण जायते या सा प्रजा प्रकृति ही विकार रूप से प्रकट होती है अतः प्रजा है और जीव भी अपने कर्मों के कारण प्रकाश में आता है; अतः वह भी प्रजा है।

मन्त्र में "एकनीडम्" शब्द आया है और महर्षि ने इसका अर्थ 'एकस्थानम्' किया है। 'नीड' का अर्थ घोंसला होता है। घोंसले में जो तन्तु पक्षी ने जिस स्थान पर लगा दिया, घोंसला नष्ट होने तक वह उसी निश्चित स्थान पर लगा रहेगा। इसी प्रकार यह सारा विश्व, जिसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र अथवा अन्य वैज्ञानिक गुप्त बातें सन्निविष्ट हैं, अपने अपने नियत स्थानों पर प्रलयकाल तक बने रहेंगे। हमारा यह शरीर भी एक नीड है इसमें आंख, नाक, कान, हृदय, नस नाडियाँ, नख आदि जहां लगा दिये हैं, वे मरण पर्यन्त अपने निश्चित स्थान पर ही बने रहेंगे। जैसे हमारे अवयवों में परिवर्तन नहीं आयेगा, ऐसे ही इस विश्व की व्यूह रचना में कभी अन्तर नहीं पड़ेगा।

मन्त्र में 'सत्' शब्द भी आया है, जिसका अर्थ 'नित्यम्' किया गया है। नित्य कहते हैं—सदा रहने वाले को। इसलिये ऐसा कोई समय नहीं आयेगा, जब ईश्वर की सत्ता उत्पन्न जगत् में नहीं रहेगी।

प्रतद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो,
धाम विमृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य,
यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥९॥

यह बत्तीसवें अध्याय का नवां मन्त्र है। इसमें निम्न बातें स्पष्ट हैं :—'धाम' शब्द ईश्वर के लिये आया, जो मुक्ति का स्थान है।

मुक्त जीव ब्रह्म में विचरण करते हैं। प्रकृति में नहीं। ब्रह्म में उन्हें आनन्द ही आनन्द है; क्योकि ब्रह्म आनन्द घन है। "गुहा विभृतम्" वह भगवान् मनुष्य की बुद्धि में विशेष धृत है। यद्यपि ईश्वर सर्वत्र व्यापक होता हुआ इस मनुष्य शरीर में भी व्यापक है। परन्तु जहां तक उसके साक्षात्कार किये जाने का सम्बन्ध है, उसे अपनी बुद्धि में ही खोजा जा सकता है। वहां उसका साक्षात्कार सरलता से होता है। क्योंकि शरीर के जितने भी आन्तरिक भाग हैं, उन सब में बुद्धि रजोगुण और तमोगुण से रहित सत्वगुण रूप है। जैसा कि योगदर्शन के व्यास भाष्य में कहा है—"सत्त्वात्मिका चेयं बुद्धिः।" सत्व प्रख्या वा ज्ञान को कहते हैं। इसलिये बुद्धि और ज्ञान पर्याय-वाची हैं। अनन्त ज्ञान स्वरूप भगवान् का ज्ञान से विशेष सम्बन्ध होना स्वाभाविक है; अतः वह बुद्धि में ही द्रष्टव्य है।

मन्त्र में 'विद्वान् और गन्धर्व' दो शब्द इस बात के द्योतक हैं कि ब्रह्म का ठीक उपदेश वेदवाणी को धारण करने वाला विद्वान् ही कर सकता है। दूसरे लोग भ्रम में स्वयं फंसे हुये अन्यों को भी भ्रमाते रहेंगे।

मन्त्र में भगवान् के लिये भी 'गुहा' शब्द का प्रयोग हुआ है। गुहा का अर्थ है—बुद्धि। व्यापक भगवान् की बुद्धि व्यापक ही हो सकती है। जिसे महत्तत्व कहते है। सृष्टि रचना क्रम में यह प्रकृति का पहला ही परिणाम है। इसी में विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और फिर प्रलय समायी हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् इसी के आलोक में अपने तीनों प्रकार के काम करता है। जैसे कि जीव अपने बुद्धि के आलोक में करता है। जैसे मनुष्य का यह शरीर है वैसे ही ईश्वर का ब्रह्माण्ड उसका शरीर रूप से है। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का वर्णन वेद में आता है और वेद बुद्धि पूर्वक है। जैसा कि कहा है—बुद्धि पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे॥

उत्पत्ति—स्थिति और प्रलय को मन्त्र में 'पदानि' इस शब्द से

प्रकट किया गया है। अर्थात् ये जानने योग्य हैं। मनुष्य को जानने चाहियें। पिता का भी पिता वह है, जो ब्रह्म का ठीक उपदेश कर दे और सृष्टि के समस्त विज्ञान को समझ जावे। इससे अतिरिक्त और कुछ भी जीव के लिये ज्ञातव्य नहीं है। इसलिये वेद का ज्ञाता ही इन सबका ज्ञाता है यह "गन्धर्व" शब्द ध्वनित कर रहा है।

"स नो बन्धुर्जनिता स विधाता ....."॥१०॥

यह मन्त्र स्पष्टीकरण की अधिक अपेक्षा नहीं रखता। मन्त्र में "अमृतम् आनशाना" पद आये हैं। 'आनशाना' पद शानच् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त है। शानच् प्रत्यय वर्तमान काल का बोधक है। इसलिये अर्थ यह हुआ कि विद्वान् लोग 'अमृतम्' मोक्षसुख को "आनशाना" प्राप्त करते हुये॥ इतने वाक्य से यह आकांक्षा है कि मोक्ष सुख प्राप्त करते हुये वे कुछ और भी करते हैं। और क्या करते हैं, इस शंका निवृत्ति के लिये "तृतीये धामन् अध्यैरयन्त" शब्द आये हैं। तृतीये का अर्थ महर्षि भाष्य में प्रकृति और जीव इन दोनों से विलक्षण तृतीये—तीसरा ब्रह्म बताया है। और इस ब्रह्म को 'धाम' बताया है—आधार बताया है। मोक्ष में जीव को भी आधार चाहिये। और वह आधार ब्रह्म है। इससे मुक्त जीव का भी ब्रह्म के सम्मुख अकिञ्चनपना सिद्ध होता है। आधारभूत ब्रह्म में रहकर मुक्त जीव "अध्यैरयन्त" सर्वत्र विचरते हैं॥ इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि मुक्त जीव मुक्ति सुख का आनन्द लेते हुये अपनी शक्ति के अनुसार सर्वत्र ब्रह्म में विचरते हैं। उनके लिये किसी एक स्थान पर रहना आवश्यक नहीं। घूमने में वे स्वतन्त्र हैं।

अब विचारणीय यह है कि जीव-ब्रह्म की अपेक्षा स्थूल है और ब्रह्म-जीव की अपेक्षा सूक्ष्म है। सूक्ष्म वस्तु स्थूल में प्रविष्ट हो जाता है। अतः ब्रह्म जीव में प्रविष्ट है। ऐसा होकर ही वह जीव के पुण्य पाप का देखने वाला है पर यहां मन्त्र में अपेक्षाकृत स्थूल जीव को

सूक्ष्मब्रह्म में विचरण करते दिखाया गया है। क्या स्थूल वस्तु सूक्ष्म में प्रवेश कर सकता है। हमारा उत्तर है—हां कर सकता है। जैसे लोहे में आग और आग में लोहा प्रवेश कर सकता है। अथवा सम्पूर्ण जगत् आकाश में हैं और आकाश सम्पूर्ण विश्व में व्यापक है। किसी के लिये कोई बाधा नहीं। इसी प्रकार जीव ब्रह्म में रहे वा ब्रह्म की जीव में प्रविष्टि रहे, कोई रुकावट नहीं आती।। एक-दूसरे के आधार का जहां तक प्रश्न है—ब्रह्म किसी के आधार पर नहीं है। जीव अवश्य ब्रह्म का आधार स्वीकार करता है, यह मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है।

परीत्यभूतानि परीत्यलोकान् परीत्यसर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥११॥

मन्त्र के प्रथम दो चरणों में ईश्वर की समस्त प्राणियों, सूर्यचन्द्र आदि लोकों और दिशाओं, उपदिशाओं, ऊपर एवं नीचे सर्वत्र व्यापकता प्रदर्शित की गई है। इस प्रकार का व्यापक भगवान् "ऋतस्य आत्मानम् अभिसंविवेश" सत्य के स्वरूप में प्रवेश किये हुवे हैं। अथवा सत्य के अधिष्ठान में प्रविष्ट है। सत्य का 'अधि' उच्च 'स्थान' स्थिति उसके साधनों पर अवलम्बित है। इसलिये कहा जा सकता है कि भगवान् सत्य को प्राप्त कराने वाले साधनों में भी है। इस लिए जो सत्य का आचरण करता है। ईश्वर उसका सहायक है। मिथ्यावादी, मिथ्याकारी, मिथ्यामानी का नहीं। इस लिये सदा सत्य का विजय होता है।

ऐसे निरूपित भगवान् को प्राप्त कैसे किया जावे ? उसके लिये मन्त्र में कहा है—"प्रथमजाम् उपस्थाय, आत्मना"। प्रथमजा का अर्थ है—सब से पहले प्रकट होने वाली वह क्या वस्तु है, जो सब से पूर्व उत्पन्न प्रकाशित होता है, प्रकट होता है। वह है वेद-चतुष्टयी (चारों वेद)। सृष्टि में वेद सब से पहले आविर्भूत हुये

496

हैं। वेद ज्ञान को कहते हैं और वह ईश्वरीय है। ज्ञान का आकार नहीं होता। इसलिये सबसे पूर्व ईश्वरीय ज्ञान—जो आंखों का विषय नहीं है, ऐसे निराकार रूप में उत्पन्न हुआ है।

हम पिछले मन्त्रों में प्रसङ्गतः यह टिप्पणी चढ़ा आए हैं कि जब सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ होता है, तब सबसे पहले 'महत्तत्त्व' बनता है, जो महान् है। इस महान् के बुद्धि, ब्रह्म भी नाम हैं। ब्रह्म का अर्थ निरुक्तकार भी यही करते हैं—ब्रह्म परिवृढं सर्वतः। जो सब ओर से वृद्धि को प्राप्त हो, वह ब्रह्म है। जैसे ईश्वर व्यापक है, उसका ज्ञान भी व्यापक है। प्रकृति के साहचर्य से यह ज्ञान आदि सृष्टि में प्रथम परिणाम स्वरूप आविर्भूत माना जाता है। इसलिये महर्षिदयानन्द ने मन्त्र में पठित प्रथमजाम् का अर्थ प्रथमोत्पन्नां वेदचतुष्टयीम् किया है। यदि यह ज्ञान पुस्तकों के आकार में निबद्ध है, तो (उपस्थाय) का अर्थ हुआ पठित्वा—पढ़कर और यदि दूसरी दशा में है, तो अर्थ हुआ संसेव्य—आचरण करके ब्रह्म को प्राप्त करे। यह ब्रह्म की प्राप्ति का साधन मन्त्र में दिखाया; किन्तु ब्रह्म प्राप्त किस अवस्था में होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—'आत्मा' आत्मा के यहां महर्षि ने दो अर्थ किये हैं, एक है—स्वस्वरूप अर्थात् आत्मारूप और दूसरा है—अन्तःकरण अर्थात् मन। "स्वस्वरूपेणान्तः करणेन च" अपने इन शब्दों में महर्षिदयानन्द ने 'च' पद डालकर यह बात और भी ध्वनित की है कि इन दोनों का ही होना आवश्यक है। केवल अकेले आत्मा अथवा केवल अन्तःकरण से ही बात नहीं बनेगी। जब ऐसी स्थिति है, तो अन्तःकरण को रजोगुण और तमोगुण से शून्य करके

सत्वगुण वाला करना पड़ेगा। जब तक रजोगुण और तमोगुण न निकाले जावें, तब तक चित्त टिक नहीं सकता और जब तक टिके नहीं, तब तक उसकी आत्मा के भीतर स्थिति नहीं हो सकती, जैसे कि योगियों की होती है : इसीलिये योगाभ्यासी अपने चित्त को आत्मा में टिके रहने का ही अभ्यास करते हैं। जैसे गीता में लिखा है–यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमतस्थिरम् ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्मेववशं नयेत् ।। इसी से अन्तःकरण-चित्त की शुद्धि होती है। सत्वप्रधान (शुद्ध अन्तःकरण) वाला आत्मा ही परमात्मा में आनन्द की अनुभूति करता है। इस मन्त्र पर की गई टिप्पणी को अब महर्षि दयानन्द के भावार्थ से मिलाइये, कहां तक ठीक ? इससे उन लोगों का भ्रम दूर हो जावेगा, जो यह कहते हैं कि ऋषि दयानन्द पदार्थ में कुछ लिखते हैं और भावार्थ में कुछ और ।।१।।

परिद्यावापृथिवी सद्य इत्वा परिलोकान् परिदिशः परिस्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ।।१२।।

इस मन्त्र में ईश्वर वास्तु शास्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। जैसे एक अभियन्ता अपने मन में किसी भवन का मानचित्र बनाता है। उसके अनुसार भवन का निर्माण करता है और फिर उसका सब स्थानों में प्रवेश करके निरीक्षण करता है कि मेरा मन चाहा भवन बना वा नहीं ? ठीक इसी प्रकार स्रष्टा भगवान् ने अपने सङ्कल्प के अनुसार जब सृष्टि (सूर्य, भूमि, लोक, लोकान्तर, दिशाओं उपदिशाओं तथा सुख का निर्माण कर लिया, तब सूर्य और भूमि को शीघ्र प्राप्त होकर (गहरी दृष्टि वाईक्षण से) सब ओर

से देखा। इसे देखने के लिए उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नहीं पड़ा; अपितु उसके सर्वत्र व्याप्त होने से सब स्थानों का ईक्षण एक साथ बन जाता है। फिर सब सूर्य और भूमि से अतिरिक्त चन्द्र व लोकलोकान्तर को प्राप्त होकर सब ओर प्रकट हो गया (पर्यभवत्) सत्ता में आ गया। रचना से रचक का पता लग गया। दूसरी बात जो ईश्वर ने की। वह यह है कि सत्य के कारण को—(सत्तात्मक पदार्थों के कारणों को) भिन्न-भिन्न प्रकार से अपनी-अपनी स्थिति में रक्खा। जैसे अग्नि के परमाणुओं को अलग से ग्रथित किया, पानी के कारणों को अलग से, वायु के सूक्ष्मांशों को एक सूत्र में अलग और पृथिवी के परमाणुओं को अलग। इस प्रकार किसी का कारण दूसरे से नहीं मिल पाया। प्रत्येक पदार्थ अपने कारण से उत्पन्न, स्थित एवं उसी में लीन होता है। वायु के सूक्ष्मांश वायु से सम्बन्ध हैं। अग्नि की लपटें अपने कारण सूर्य में जाती हैं। सूर्य के किरण अपने कारण विद्युत में विलीन होते हैं। इसी प्रकार जल जलीय कारणों में और पार्थिव पदार्थ अपने पृथिवी के कणों में ही जाते हैं। तथा इस सबकी क्षयपूर्ति अपने-अपने कारणों से ही होती है। इस सब सत्यरूप पदार्थों के मूल अलग-अलग ग्रन्थ देने से सुख की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार दुःख का अभाव साधित करके भगवान् ने अपनी इस विशिष्ट रचना को देखा, जिससे कि सुख अस्तित्व में आया।

बीज भी भगवान् के बनाये सत्यस्वरूप हैं—सत्य हैं। उनके कारणों को इस पृथिवी में अलग अलग ही ग्रथित सा किया हुआ है। इसी कारण गन्ने की आंख जो उसका बीज है, भूमि से मीठा

रस ही खींचती है। मिर्च के बीज तीखापन—चरपरा को चिरायता कडुवेपन को खींचता है। इसी प्रकार सफल पदार्थ अपने अपने कारणों से पुष्ट होकर मनुष्यों से भोगे जा रहे हैं, जो सुखदायक हैं। यह ईश्वर का बड़ा भारी विज्ञान है; अतः ऐसे अद्भुत ईश्वर का साक्षात्कार अवश्य करना चाहिये।

मन्त्र में आए "लोकान्" का अर्थ महर्षि ने "द्रष्टव्यान् सृष्टि-स्थान भूगोलान्" किया है। 'लोक' शब्द लोकृ दर्शने से ही सम्पन्न हुआ है; पर यहां जो बात ध्वनित हो रही है वह यह है कि मनुष्य को अपने भूगोल से अतिरिक्त अन्य भूगोलों को भी जा जाकर देखना चाहिये। मन्त्र में लोकान् बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इससे अनेक लोकों में जा सकना सिद्ध होता है। अब यह मनुष्य के विज्ञान की उच्चता पर निर्भर है कि वह कहां तक सफल होता है।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्यकाम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳस्वाहा ॥१३॥

इस मन्त्र में सङ्गत (युक्तियुक्त) मेधा (बुद्धि) को प्राप्त करने का उपाय 'स्वाहा' शब्द से प्रकट किया गया है। स्वाहा का अर्थ है—सत्यक्रिया और सत्य वाणी। इन दोनों से ऐसी सुसङ्गत बुद्धि प्राप्त होती है जो सत्य और असत्य तत्त्वों का ठीक ठीक विभाजन कर सकती है। सत्य असत्य का निर्णय कर सकती है। ऐसी बुद्धि को मन्त्र में "सनिः" नाम दिया गया है। वह सत्यक्रिया और सत्यवाणी कैसे प्राप्त हो, जो इस बुद्धि को जन्म दे? इसका उत्तर "सदसस्पतिः" शब्द से दिया गया है। 'सदः' के चार अर्थ हैं—सभा, ज्ञान, न्याय और दण्ड। ईश्वर इन चारों की रक्षा करता है। मनुष्य

को चाहिये कि वह सभा के आसन पर बैठ—अध्यक्ष बनकर उसका ठीक ठीक निर्वहण करे, यह सत्य क्रिया है। अधिक से अधिक वेद ज्ञान का संग्रह करे, यह सत्यवाणी है। न्याय के पद पर अधिष्ठित होकर पक्षपात रहित निर्णय दे, यह सत्य क्रिया है। और अपराधो को उचित दण्ड दे, यह भी सत्य क्रिया है। इस प्रकार सत्यक्रिया और सत्य वाणी की उपलब्धि होतो है जो बुद्धि को जनक है। किन्तु ईश्वर के समान सभा, ज्ञान, न्याय और दण्ड का स्वामो तब ही बना जा सकता है, जब वह परमेश्वर को ओर अपना झुकाव रक्खे। मनुष्य को उससे भय मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मन्त्र में उसे प्रिय नाम दिया गया है। जो प्रीति का विषय, प्रसन्नता देने वाला तथा स्वयं प्रसन्न है। और जीव के लिये कमनोय है। इस प्रकार सङ्गत बुद्धि की उपलब्धि के लिये अद्भुत भगवान् के शरण में पहुंचना ही अनिवार्य ठहरा॥ तब ही वह मनुष्य भो स्वयं प्रसन्न रहेगा, दूसरों को प्रीति का विषय बनेगा और सबको प्रसन्न करेगा॥१३॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥१४॥

इससे पहले मन्त्र में जिस मेधा का वर्णन किया है, उस मेधा को वेदों के विद्वानों ने प्राप्त किया है। और सुखी रहे हैं तथा रह रहे हैं। इसीलिये एक सुख चाहने वाला व्यक्ति प्रतिदिन मेधावी बनने की प्रार्थना ईश्वर से करता रहे और उत्तरोत्तर मेधावी बनने में सहायक सत्यवाणी का आश्रय लेता रहे॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामानिः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधांधाता ददातुमे॥१५॥

यजुर्वेद अध्याय ३२ बत्तीस

महर्षिकृत भाष्य (पदार्थ, अन्वय, भावार्थ) का सार

[पं० सुदर्शनदेव आचार्य एम. ए. राजकीय महाविद्यालय जीन्द]

१—प्रथम मन्त्र (देवता परमात्मा) ॥

१. परमेश्वर कैसा है—वह परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा और हर्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। ज्ञानस्वरूप और स्वप्रकाश स्वरूप होने से परमेश्वर का नाम 'अग्नि' है। प्रलय समय में सब पदार्थों को वापिस लेने वाला होने से परमेश्वर का नाम 'आदित्य' है। अनन्त बलवान् और सर्वाधार होने से परमेश्वर का नाम 'वायु' है। स्वयं आनन्दस्वरूप और अपने उपासकों को अह्लादित करने वाला होने से परमेश्वर का नाम 'चन्द्रमा' है। आशुकारी और शुद्ध स्वभाव वाला होने से परमेश्वर का नाम 'शुक्र' है। सबसे महान् होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है। सर्वत्र व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'आपः' है। सब प्रजा का स्वामी होने से परमेश्वर का नाम 'प्रजापति' है। परमेश्वर के ये 'अग्नि' आदि गौणिक नाम हैं, इसी प्रकार 'इन्द्र' आदि भी उसके गौणिक नाम हैं। इन गुणों से युक्त परमेश्वर की उपासना ही फलदायक होती है।

२. परमेश्वर के गौणिक नाम—अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति० ॥३२।१॥

२—द्वितीय मन्त्र (देवता—परमात्मा) ॥

१. परमेश्वर कैसा है—विशेष रूप से प्रकाशमान, पूर्ण, विभु परमेश्वर से निमेष अर्थात् आंख का मींचना आदि लक्षणयुक्त तथा

इस मन्त्र में वरुण, अग्निः, प्रजापतिः, इन्द्र, वायु एवं दो बार पठित चकारों से गृहीत अन्य सत्पुरुषों तथा धाता से कहा गया है कि ये मुझे बुद्धि दें। ये बुद्धि कैसे देंगे ? इसके समाधान में कहा गया है—'स्वाहा' से देंगे। धर्मयुक्त क्रिया से देंगे। धार्मिक क्रियायें कैसे सम्भव हैं। इसके लिये स्पष्ट है कि श्रेष्ठ, विद्या से प्रकाशित, प्रजा के पालक, परमैश्वर्यवान्, बलिष्ठ और राज्य के धारण करने वाले व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करे। उनसे प्रश्न करे तथा उत्तर पावे। और फिर आचरण करे। तब वह भी वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु, और धाता बन जावेगा। इसके पश्चात् वह भी दूसरों के कल्याण के लिये मेधा देने वाला है॥

कला, काष्ठा आदि कालावयव उत्पन्न हुये हैं। उस परमेश्वर के विषय में यह कोई नहीं सकता कि वह ऊपर है, नीचे है, मध्य में है, पार्श्व में है, दूर वा निकट है। वह परमेश्वर सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म है। योगाभ्यास से उसके स्वरूप को जानकर उसकी नित्य उपासना करें।

२. कालावयव—१ निमेष=पलक गिरने का समय। १८ निमेष=१ काष्ठा। ३० काष्ठा=१ कला। ३० कला=१ मुहूर्त्त। ३० मुहूर्त्त=२ अहोरात्र १५ अहोरात्र=१ पक्ष। २ पक्ष=१ मास। ६ मास=१ अयन। २ अयन=१ वर्ष ।।३२।२।।

३—तृतीय मन्त्र (देवता—हिरण्यगर्भ=ईश्वर) ।।

१. परमेश्वर कैसा है—परमेश्वर का मुख्य निज नाम 'ओ३म्' है। जो पूज्य और महान् है। धर्मयुक्त कर्मों का आचरण रूप उसकी आज्ञा का पालन करना ही उसके नाम का स्मरण करना है, जो यश एवं कीर्ति का हेतु है। परमेश्वर अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है। अनेक स्थलों पर वेदों में उसकी महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

परमेश्वर सूर्य, विद्युत्, आदि पदार्थों का आधार होने से अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष है। परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह मुझ जीवात्मा का हनन न करे अर्थात् मुझे अपने से विमुख न होने दे, मेरी प्रज्ञा को धर्माचरण में सदा युक्त रखे।

परमेश्वर किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है। वह सदा से वर्तमान है। वह कभी भी शरीर धारण नहीं करता। इसलिये वह न कभी मरता है, न कभी विकृत होता है और न कभी क्षीण होता है। इन सब दुःखों से दूर होने से वह उपासना करने के योग्य है। जो परमेश्वर से भिन्न की उपासना करते हैं वे महान् पाप से युक्त होकर दुःख और क्लेशों से सदा पीड़ित रहते हैं।

परमेश्वर का परिमाण बतलाने वाली कोई तुला नहीं है। उसकी आकृति भी नहीं है। जब आकृति ही नहीं फिर प्रतिकृति (मूर्ति) कैसे हो सकती है। इसलिये किसी मूर्ति को भगवान् मानकर उसकी उपासना करना वेद विरुद्ध है ॥३२।३॥

४—चतुर्थ मन्त्र (देवता—आत्मा=परमेश्वर) ॥

१. परमेश्वर कैसा है—दिव्य स्वरूप वाला प्रसिद्ध परमेश्वर जगत् को उत्पन्न करके सर्वत्र प्रकाशित है। वह सब दिशा एवं उपदिशाओं में व्यापक होकर अपनी व्यापकता से इन्द्रियों के विना ही सब इन्द्रिय कर्मों को करता है। वह सब प्राणियों के हृदय में विराजमान है। वह जगत् को उत्पन्न करने के लिये पूर्व से प्रकट है और आगामी कल्पों में भी इसी प्रकार प्रकट (प्रसिद्ध) रहेगा। मनुष्य मुखमण्डल में विद्यमान ज्ञानेन्द्रियों से अपने व्यवहार सिद्ध करता है किन्तु परमेश्वर सर्वतोमुख है। वह प्रत्येक पदार्थ में व्यापक होने से सर्वत्र, सबको देख रहा है। इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की उपासना करें और उसे जानें। जो मनुष्य उसका ध्यान करते हैं वे ही उसको जान सकते हैं; दूसरे नहीं ॥३२।४॥

५—पञ्चम मन्त्र (देवता—परमेश्वर) ॥

परमेश्वर कैसा है—परमेश्वर अनादि है इसलिये उस से पूर्व कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ और न ही हो सकता है। वही सब प्रजा में व्याप्त होकर जीवों के कर्मों को देखता हुआ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करके न्याय कर रहा है। सबके आधारभूत सब लोक उसी में विद्यमान हैं। उसने १. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. जल, ७. पृथिवी, ८. इन्द्रिय, ९. मन, १०. अन्न, ११. वीर्य, १२. तप, १३. मन्त्र, १४. कर्म, १५. लोक, और १६ नाम यह सोलह वस्तुयें बनाई हैं इसलिये वह 'षोडशी' कहलाता है। षोडशी परमेश्वर प्रजा के साथ रमण करता हुआ प्रजा का

पालन करता है। यह षोडश आत्मक जगत् उसी परमेश्वर में विद्यमान है। विद्युत्, सूर्य और चन्द्र इन तीन प्रकार की तेजोमय प्रकाशक ज्योतियों को भी उसी ने रचा है ॥३२।५॥

६—षष्ठ मन्त्र (देवता–परमात्मा) ॥

परमेश्वर कैसा है—तीव्र तेज वाले सूर्य आदि प्रकाशवान् पदार्थ तथा भूमि परमेश्वर ने रची है। वह सब सुखों को धारण किये हुये है इसलिये सब सुखों का दाता है। दुःख रहित मोक्ष को भी उसी ने धारण किया है इसलिये मोक्ष का साधक भी वही है। वह स्वयं आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है तथा आकाश में वर्तमान लोकों का विशेष निर्माण करता है। इसलिये हम उस सुखस्वरूप, स्व-प्रकाश, सकल सुखदाता परमेश्वर की प्रेमपूर्ण भक्तिभाव से पूजा करें, उसे प्राप्त करें ॥३२।६॥

७—सप्तम मन्त्र (देवता–परमात्मा)

परमेश्वर कैसा है—अपने गुणों के कारण प्रशंसा के योग्य सूर्य और पृथिवी आदि लोक भ्रमण करते हुये सर्वव्यापक ईश्वर में ही विद्यमान हैं। ये सूर्य और पृथिवी आदि लोक रक्षादि से सबका धारण करते हैं जो ईश्वर ने ही रचे हैं। सूर्य ईश्वर में ही उदय को प्राप्त होता है। प्राण और वृहद् आकाश भी उसी से घिरा हुआ है। और ईश्वर ही इन्हें विशेष रूप से प्रकाशित करता है। सूर्य, प्राण और आकाश का अध्यापक और उपदेशक लोग विज्ञान से अभीक्षण करें, इनके स्वरूप को जानें तथा सुख साधक, शुद्ध स्वरूप आत्मा में स्थित परमेश्वर की योगाभ्यास से उपासना करें ॥३२।७॥

८—अष्टम मन्त्र (देवता–परमात्मा) ॥

परमेश्वर कैसा है—सम्पूर्ण जगत् का परमेश्वर ही एकमात्र निवास स्थान है। आकाश आदि सब पदार्थों का आधार ईश्वर ही

है। वह चेतन ब्रह्म बुद्धि वा गुप्त कारण रूप प्रकृति में छुपा हुआ है। जिसे मेधावी विद्वान् ही बुद्धि के बल से जान सकता है। यह सम्पूर्ण जगत् परमेश्वर में ही संगत और विगत होता है अर्थात् सृष्टि काल में यह जगत् उसी से निकलता है, उदय होता है और प्रलय काल में उसी में लीन हो जाता है, अस्त हो जाता है। सृष्टिकाल में वही प्रकृति के परमाणओं को मिलाकर सृष्टि की रचना करता है और प्रलयकाल में वही प्रकृति के परमाणुओं को पृथक् करके प्रलय करता है। जैसे पेट में तन्तु परस्पर ओत प्रोत होते हैं वैसे परमेश्वर प्रकृति और जीवों में ओत प्रोत है। कोई भी वस्तु परमेश्वर की व्याप्ति के विना नहीं है। इसलिये परमेश्वर सबके लिये उपासनीय है। उसको छोड़कर इस सृष्टि में किसी अन्य को उपास्य ईश्वर न मानें ॥३२।८॥

९—नवम मन्त्र (देवता-विद्वान्=पण्डित) ॥

परमेश्वर कैसा है—वेदवाणी को धारण करने वाला विद्वान् गन्धर्व कहलाता है, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल ये तीनों ईश्वर की बुद्धि में निहित हैं, जो मनुष्यों के लिये जानने की वस्तु हैं, इन्हें उक्त गन्धर्व विद्वान् ही यथार्थ रूप में जानता है इसलिये वह पिता का भी पिता अर्थात् पितामह कहलाता है अथवा पिता अर्थात् ईश्वर का भी ज्ञान प्रदान और आस्तिकता के उपदेश करने से पिता=रक्षक होता है। गन्धर्व विद्वान् ही बुद्धि में विशेष रूप से स्थित, नाशरहित, मुक्तिसुख के स्थान एवं मुक्ति के साधक, चेतन, नित्य, ब्रह्म का उसके गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन पूर्वक उपदेश कर सकता है, अन्य नहीं ॥३२।९॥

१०—दशम मन्त्र (देवता–परमात्मा) ॥

परमेश्वर कैसा है—परमेश्वर जीव और प्रकृति से विलक्षण होने से तृतीय है जो सबका आधार भूत धाम है। जिस शुद्ध स्वरूप परमेश्वर में योगी विद्वान् लोग मोक्षसुख को प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं, सर्वत्र स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं। वही परमेश्वर सब लोक लोकान्तरों को तथा जन्म, स्थान और नामों को जानता है इसलिये वह सर्वज्ञ है। वही हमारा भ्राता अर्थात् भाई के समान मान के योग्य एवं सहायक है, सबका उत्पादक है, सब पदार्थों और कर्मफलों का विधाता है ऐसा निश्चय रखें ॥३२।१०॥

११—एकादश मन्त्र (देवता–परमात्मा) ॥

परमेश्वर कैसा है—परमेश्वर सब भूत, सब पृथिवी, सूर्य आदि लोक, सब पूर्व आदि दिशा, सब आग्नेयी आदि उपदिशा, नीचे और ऊपर अर्थात् सबमें व्यापक होकर सत्य के स्वरूप में प्रविष्ट हो रहा है इसलिये सब मनुष्य धर्माचरण, प्रथम उत्पन्न चारों वेदों के अध्ययन, योगाभ्यास का सेवन, श्रेष्ठ जनों का सङ्ग आदि शुभ कर्मों से शरीर की पुष्टि, आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि को सिद्ध करके पवित्र आत्मा एवं शुद्ध अन्तःकरण से सर्वव्यापक परमात्मा को प्राप्त करके सुखी रहें ॥

२. दिशा=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ध्रुवा (नीचे की दिशा), ऊर्ध्वा (ऊपर की दिशा) ॥ उपदिशा—आग्नेयी (पूर्व–दक्षिण के बीच की दिशा), नैर्ऋति (दक्षिण–पश्चिम के बीच की दिशा), वायवी (पश्चिम–उत्तर के बीच की दिशा), ऐशानी (उत्तर–पूर्व के बीच की दिशा) ॥३२।११॥

१२—द्वादश मन्त्र (देवता–परमात्मा)

परमेश्वर कैसा है—परमेश्वर सूर्य, भूमि को अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सब ओर से देख रहा है, सृष्टि में स्थित भूगोलों को

अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सर्व और विद्यमान हो रहा है, पूर्व आदि दिशाओं को अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सब ओर विराजमान हो रहा है, सब सुखों को अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सब ओर से देख रहा है, सत्य (प्रकृति) के विस्तृत तन्तु को विविध रूप में ग्रथित करके जीवों को नाना सुख प्रदान कर रहा है, नाना सुखों को स्वयं देख रहा है। परमेश्वर के उपासक उसकी बनाई सृष्टि का सुख के लिये उपयोग कर रहे हैं, लौकिक, पारमार्थिक और विद्या जन्म सुख को शीघ्र प्राप्त करके निरन्तर आनन्द भोग रहे हैं। इस परमेश्वर को यथावत् जानकर इसकी नित्य उपासना करो ॥३२।१२॥

१३—त्रयोदशः मन्त्र (देवता—इन्द्र=ईश्वर) ॥

परमेश्वर कैसा है—परमेश्वर सभापति, ज्ञानपति, न्यायपति और दण्डपति है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव आश्चर्य-चकित कर देने वाले हैं, इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जीव के लिये वह कमनीय है, प्रीति करने का विषय है, उसे प्रसन्न करने वाला है और स्वयं सदा प्रसन्न है। ऐसे परमात्मा की सत्याचरण और सत्यभाषण आदि शुभ कर्मों से उपासना और सेवा करके सत्य-असत्य का विवेक करने वाली मेधा बुद्धि को मैं प्राप्त करूं, क्योंकि जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सेवन करते हैं वे सब विद्याओं को प्राप्त करके मेधा-बुद्धि से सब सुखों को उपलब्ध करते है ॥३२।१३॥

१४—चतुर्दश मन्त्र (देवता—परमात्मा) ॥

ईश्वर से बुद्धि की याचना—हे अपने प्रकाश से विद्या के विज्ञापक जगदीश्वर! विद्वानों के वृन्द और विज्ञानी पितर लोग जिस मेधा—बुद्धि का सेवन करते हैं उस मेधा-बुद्धि से मुझे युक्त कर, सत्यवाणी से मुझे मेधावी बना।

सब मनुष्य परमेश्वर की उपासना से मेधा=शुद्ध विज्ञान तथा

विद्वानों की सेवा से मेधा=धर्म से उत्पन्न धन को प्राप्त करने की कामना करें। स्वयं मेधावी=विज्ञानवान् और धन प्राप्त करावें। ॥३२।१४॥

१५—पञ्चदश मन्त्र (देवता—परमेश्वर और विद्वान्) ॥

१. ईश्वर से बुद्धि की याचना—सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर धर्माचरण से मुझे शुद्ध-बुद्धि (मेधा) प्रदान करे। विद्या से प्रकाशित, प्रजा का पालक परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे। परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे। परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे। बलिष्ठ परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे। सब संसार को धारण करने वाला परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे।

२. विद्वान् से धन की याचना—श्रेष्ठ विद्वान् राजा मुझे धर्माचरण से धन प्रदान करे। विद्या से प्रकाशित प्रजा का पालक विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे। परमैऐश्वर्यवान् विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे। बल देने वाला विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे। राज्य को धारण करने वाला विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे।

जैसे अपनी आत्मा के लिये गुण, कर्म, स्वभाव और सुख की कामना करें वैसे दूसरों के लिये भी चाहें। जैसे अपनी उन्नति के लिये प्रार्थना करें वैसे परमेश्वर और विद्वानों से अन्यों के लिये भी प्रार्थना करें। केवल प्रार्थना से कुछ नहीं बनता उसके अनुसार सत्याचरण भी करें। जब जब विद्वानों क समीप जावें तब तब सब के कल्याण के लिये प्रश्न-उत्तर करके संशय को दूर करें ॥३२।१५॥

१६—षोडश मन्त्र (विद्वान् और राजा) ॥

१. ईश्वर से प्रार्थना—हे परमेश्वर! आपकी कृपा से और मेरे सत्याचरण से मेरा यह वेद और ईश्वर विज्ञान तथा वेद और ईश्वर विज्ञान को जानने वाला ब्रह्मकुल शोभा और लक्ष्मी को प्राप्त हो।

मेरा राज्य धनुर्वेदविद्या और क्षत्रियकुल शोभा तथा राजलक्ष्मी को प्राप्त हो।

२. विद्वान् से प्रार्थना—हे विद्वान् पुरुष ! आपके पुरुषार्थ से और मेरे सत्याचरण से मेरा वेद, ईश्वर-विज्ञान और ब्रह्मकुल शोभा और लक्ष्मी को प्राप्त ही। मेरा राज्य, धनुर्वेदविद्या और क्षत्रियकुल शोभा और राजलक्ष्मी को प्राप्त हो। जैसे आप विद्वान् मुझ में अतिश्रेष्ठ शोभा और लक्ष्मी को स्थापित करें वैसे अन्यों में भी स्थापित कीजिये।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर विद्वान् पुरुष अपने जिज्ञासु शिष्य को उत्तर देवें कि हम तेरे लिये लक्ष्मी प्राप्ति में पूर्ण प्रयत्न करेंगे।

जो विद्वान् आचार्य लोग परमेश्वर की आज्ञा का पालन तथा विद्वानों की सेवा और सत्कार से सब मनुष्यों में से ब्राह्मण और क्षत्रिय को विशेष रूप से शिक्षित करके विद्यादि सद्गुणों से युक्त कर सबकी उन्नति करके अपने आत्मा के समान सबके साथ बर्ताव करते हैं वे सबके पूजनीय होते हैं। ३२।१६॥

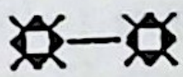

'न तस्य प्रतिमा अस्ति'

(श्री पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड जी, आनन्द कुटीर ज्वालापुर)

वैदिक धर्मोद्धारक शिरोमणि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद अ० ३२ मन्त्र ३ पर जिसका प्रारम्भ 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः' का जो भाष्य किया है वह उद्धृत किया जा चुका है। उसके स्पष्टीकरण और समर्थन के लिये टिप्पणी आवश्यक प्रतीत होती है क्योंकि महर्षि दयानन्द ने मूर्तिपूजा खण्डनार्थ सबसे अधिक आधार इस मन्त्र को बनाया और शास्त्रार्थों में इसका प्रयोग किया। यद्यपि मन्त्र के शब्द स्पष्ट हैं 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' उस पुरुष (सर्वव्यापक परमेश्वर) की कोई प्रतिमा अथवा मूर्ति नहीं हो सकती तथापि अनेक पौराणिक विद्वान् इस अर्थ को बदलने का यत्न करते पाये जाते हैं। कई कहते हैं 'यस्य नाम महद् यशः' जिस ईश्वर का बड़ा भारी यश है 'नतस्य' उस नम्र भूत परमेश्वर की मूर्ति है। यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि 'यत्तदोर्नित्य सम्बन्धः' यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध है यह व्याकरण का सामान्य नियम है। इसलिये 'यस्य' के साथ 'तस्य' का ही प्रयोग सर्वथा समुचित है नतस्य मानकर अर्थ करने से वह व्याकरण विरुद्ध अर्थ हो जाता है और 'नतस्य' अर्थात् नम्र झुके हुये परमेश्वर का यह अर्थ सर्वथा असङ्गत भी है। परमेश्वर के नत वा झुके हुये होने का कुछ भी सङ्गत भाव नहीं निकल सकता। "नमस्ते आन ओजसे, गृणन्ति देव कृष्ट यः।" (साम ११) इत्यादि वेदमन्त्रों के अनुसार परमेश्वर के आगे सब मनुष्य झुकते और 'नमस्ते' कहकर कि हम तुझे नमस्कार करते हैं उसकी स्तुति करते हैं न कि वह परमेश्वर किसी के आगे नत होता वा झुकता है। इसके अतिरिक्त इस मन्त्र के पदपाठ से भी स्पष्ट है कि उक्त अर्थ सर्वथा कल्पित और अमान्य है।

पदपाठ सर्वत्र इस प्रकार दिया गया है :—

न । तस्य । प्रतिमेति प्रतिऽमा ।

अस्ति । यस्य । नाम । महत् । यशः ।

(देखिये – शुक्ल यजुर्वेद संहिता—उबटमहीधर भाष्याभ्यां संवलिता—निर्णय सागर मुम्बई सन् १९२९ पृ० ५३०)

इस यत्न के असफल होने पर कुछ पौराणिक पण्डित यह कहकर मूर्तिपूजा निषेध के पक्ष को टालने का यत्न करते हैं कि यहां प्रतिमा का अर्थ उपमा है अतः इस मन्त्र का इतना ही तात्पर्य है कि परमेश्वर की कोई उपमा नहीं हो सकती वह अनुपम है। इससे मूर्तिपूजा का निषेध सिद्ध नहीं होता। यह बात भी सर्वथा अशुद्ध है। प्रतिमा का अर्थ मूर्ति होता है इसमे कोई विद्वान् इन्कार नहीं कर सकता। संस्कृत तथा संस्कृत हिन्दी, संस्कृत अंग्रेजी सभी कोषों से प्रतिमा का मूर्ति यह अर्थ स्पष्टतया सिद्ध होता है। संस्कृत के लौकिक सुप्रसिद्ध अमरकोष में (शूद्र वर्ग काण्ड ३२ श्लोक ३६) लिखा है "प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतिच्यातना प्रतिछाया प्रतिकृतिरच ॥ (अमरकोष ५ ३६)

पण्डित पुस्तकालय—काशी द्वारा प्रकाशित 'अमरकोष' के संस्करण में इस पर हिन्दी भाषा में टिप्पणी है 'प्रतिमा के ८ नाम।' मेदिनीकोष में भी प्रतिमा का ऐसा ही अर्थ दिया है। चिन्तामणि कोष में 'प्रतिनिधिः प्रतिमायाम्' ऐसा कहा है उसका भाव भी यही निकलता है कि सर्वव्यापक परमेश्वर की कोई प्रतिमा (मूर्ति) नहीं बन सकती और न उसका कोई प्रतिनिधि हो सकता है। यजुर्वेद-भाष्य ३२.३ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रतिमा का अर्थ 'प्रतिमीयतेयया तत् परिमापकं, सदृशं तोलनसाधनं प्रतिकृतिः आकृतिर्व। इत्यादि सब अर्थों का निर्देश करते हुए इन सबका परमेश्वर के पक्ष में निषेध किया है। उबट ने इसका अर्थ 'नतस्यपुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानभूतं किञ्चिद् विद्यते' जिसमें कोई आपत्ति नहीं क्योंकि महर्षि दयानन्द जी के भाष्य में भी 'प्रतिमानम्' शब्द आया है।

अर्थ यही बनता है कि परमेश्वर का कोई प्रतिमान नहीं। उसके सदृश कोई नहीं जो उसका प्रतिनिधि हो सके। महीधर ने अपने भाष्य में 'तस्यपुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानम् उपमानं किञ्चिद् वस्तु-नास्ति' यह लिखकर केवल परमेश्वर की अनुपमता दिखाने का यत्न किया है किन्तु वह ठीक नहीं। प्रतिमा के मूर्ति परक अर्थ से इन्कार कोई भी नहीं कर सकता। मन्त्र में हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥ यस्येयेहिमवन्तोमहित्वा यस्यसमुद्रं रसयासहाहुः।.....यस्मान्नजातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानिविश्वा। (यजु० ८-३६) मा मा हिंसीज्जनितायः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्माजजाना' (य० १२.१०२) इत्यादि जिन मन्त्रों का प्रतीक रूप में निर्देश है उनमें परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् तथा जगदुत्पादक कहा गया है। ऐसे परमेश्वर की मूर्ति कभी बन ही नहीं सकती इसलिये महर्षि दयानन्द सरस्वतीकृत अर्थ सर्वथा ठीक है कि उस सर्वव्यापक परमेश्वर की कोई मूर्ति वा आकृति नहीं। यो न म्रियते न विक्रियते न क्षीयते तस्यैवोपासनां सततं कुरुत यदि अस्माद् भिन्नस्य उपासनां करिष्यन्ति तर्हि अनेन महता पापेन युक्ताः सन्तो भवन्तो दुःखक्लेश-र्हता भविष्यन्ति।" अर्थात् न परमेश्वर न करता न विकृह होता न नष्ट होता है उसी की उपासना निरन्तर करो। जो इससे भिन्न उपासना करोगे तो इस महान् पाप से युक्त हुए आप लोग दुःख-क्लेशों से नष्ट होगे। (महर्षिदयानन्दकृतभावार्थ)। इसी मन्त्र के भाव को लेकर मुण्डकोपनिषद् में ऋषि ने कहा है—

दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः। स बाह्याभ्यान्तरो ह्यजः।
अप्राणोह्यमन्तः शुभ्रोह्यक्षरात् परतः परः॥ मुण्डकोप० २.३

अर्थात् वह परमेश्वर दिव्य है, मूर्ति रहित है, बाहर अन्दर सब जगह व्यापक है और सदा अजन्मा है।

अतः महर्षि दयानन्द सरस्वतीकृत अर्थ सर्वथा प्रमाणयुक्ति सङ्गत होने के कारण माननीय है। ●

(तदेवाग्नि० मन्त्र अद्वैत प्रतिपादक है वा नाम प्रतिपादक)

(लेखक—महर्षि साहित्यभाष्यकार आचार्य विश्वश्रवाः जी व्यास वेदाचार्य)

ओ३म् । तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

साक्षात्कृतधर्मा मन्त्र कृन्महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि—

उस परमात्मा के अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमाः, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति नाम हैं ।

परन्तु पौराणिक भाष्यकार उवट महीधर आदि ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि—

(तदेवग्निः) अग्नि ब्रह्म ही है (तदादित्यः) यह सूर्य भी ब्रह्म है (तद् वायुः) वायु भी ब्रह्म ही है । (तदु चन्द्रमाः) यह चन्द्रमा भी ब्रह्म ही है । (शुक्रं ब्रह्म) पवित्र त्रयी लक्षण वेद भी ब्रह्म ही है (ता आपः) वह प्रसिद्ध जल भी ब्रह्म है (स प्रजापतिः) । वह प्रसिद्ध प्रजापति भी ब्रह्म है ।

अर्थात् अद्वैत का प्रतिपादक यह मन्त्र है कि अग्नि वायु चन्द्रमा सूर्य आदि पदार्थ भी ब्रह्म ही हैं । ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं ।

(उभय मन्त्रार्थमीमांसा)

'तदेवाग्नि०' मन्त्र के इन दोनों अर्थों में कौन सा अर्थ ठीक है इस पर मीमांसा यहां की जाती है । महर्षि का कहना है कि यह

मन्त्र परमात्मा के अनेक नामों को बताने वाला है अर्थात् अग्नि वायु आदि परमात्मा के नाम हैं । उवट आदि का कहना है कि यह मन्त्र अद्वैत का प्रतिपादक है । अर्थात् ब्रह्म ही अग्नि वायु आदि का अभिन्न निमित्तोपादक कारण है । ब्रह्म ही अग्नि, वायु आदि बन जाता है । ब्रह्म ही ब्रह्म सब संसार है प्रकृति जीव कुछ नहीं ।

(१) इस मन्त्र में आठ तत् शब्द हैं और आठ ही परमात्मा के नाम इस मन्त्र में है अतः महर्षि का अर्थ स्वरसवाही है—

१. अग्नि । २. आदित्य । ३. वायु । ४. चन्द्रमा । ५. शुक्र । ६. ब्रह्म । ७. आपः । ८. प्रजापति ।

(२) महीधर ने "शुक्रं=पवित्र ब्रह्म=त्रयी लक्षण वेद" अर्थ करके पदार्थों की संख्या आठ के स्थान पर सात कर दी अतः ।

"तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म" में एक तत् शब्द व्यर्थ हो गया । इसी आपत्ति को बचाने के लिये सायणाचार्य ने इस मन्त्र के भाष्य में शुक्र को पृथक् पदार्थ माना और पदार्थों की संख्या भी आठ ही रखी ।

(३) परन्तु उवट महीधर और सायण तीनों को (ता आपः) प्रसिद्ध जल (सः प्रजापतिः) वह प्रसिद्ध प्रजापति इस प्रकार अर्थ करके 'ताः' और 'सः' दो तत् शब्दों का प्रसिद्ध अर्थ पर लगाने से दो तत् शब्दों का अध्याहार करना पड़ा है—

ता आपः (तदेव) । स प्रजापतिः (तदेव) ।

(४) इस मन्त्र में उवट महीधर सायण तीनों के अर्थों में विधेयादिमर्श दोष है । मन्त्र में तत् उद्देश्य है और अग्नि विधेय है तदेवं—अग्निः=वह ब्रह्म ही अग्नि नाम वाला है महर्षि के इस अर्थ में तो 'तदेव' उद्देश्य है और 'अग्नि' विधेय है । उद्देश्य को प्रथम कहा जाता है और विधेय को बाद में अतः 'तदेव' उद्देश्य मन्त्र में प्रथम है और 'अग्नि' विधेय बाद है । यह ठीक है । पर यदि 'तदे-

वाग्निः' का अर्थ यह किया जावे कि अग्नि ब्रह्म है जैसा उवट महीधर और सायण ने अर्थ किया है कि—

अग्निः तदेव, आदित्यः तदेव। अर्थात् अग्नि ब्रह्म ही है, आदित्य ब्रह्म ही है इत्यादि। इस अर्थ में विधेयाविमर्श दोष है। क्योंकि इस अर्थ में अग्नि उद्देश्य है और ब्रह्म विधेय है वह बताना यह चाहता है कि अग्नि ब्रह्म है आदित्य ब्रह्म है वायु ब्रह्म है अतः अग्नि आदि पदार्थ उद्देश्य है और ब्रह्म जब विधेय है तब मन्त्र ऐसा होना चाहिये। था कि—

अग्निस्तदेवादित्यस्तदेव वायुस्तच्चन्द्रमा तदु।
शुक्रं तदेव ब्रह्म तत् ता आपः स प्रजापतिः॥

क्योंकि—

उद्देश्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।

अर्थात्—उद्देश्य को न कहकर विधेय को पहले नहीं कहना चाहिये। उवट महीधर सायण के अर्थों में 'अग्नि' उद्देश्य को पहले न कहकर तदेव विधेय को पहले मन्त्र में कहा है अतः यदि उवट महीधर सायण का अर्थ माना जावे तो इस मन्त्र में विधेया विमर्श दोष है।

५—यदि यह कहा जावे कि महर्षि के अर्थ में भी नाम शब्द का अध्याहार करना पड़ता है कि तदेवाग्निः=वह ब्रह्म अग्नि नाम वाला है। तो इससे श्रुति स्मृति दोनों प्रमाण हैं—

(क) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद०)

(ख) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् (मनु०)

६—यदि यह कहा जावे कि "ताः आपः स प्रजापतिः" में तदेव का प्रवाह टूट गया। ताः=वह ब्रह्म आपः=अप् नाम वाला है। सः वह ब्रह्म प्रजापतिः प्रजापति नाम वाला है यह भाषा का प्रवाह

संगत नहीं है जो सब जगह तो तत् नपुसंकलिङ्ग है और 'ता आपः' में स्त्रीलिङ्ग और 'सः प्रजापतिः' में पुल्लिग है। इसका उत्तर यह है कि कहीं उद्देश्य को प्रधानता से लिङ्गता होती है और कहीं विधेय को प्रधानता से लिङ्गता होती है--

'छन्दासंख्या' निवन्धोऽयं मन्त्र संख्याप्रतिपादिका।
'छन्दः संख्या' निवन्धोऽयं मन्त्र संख्या प्रतिपादकः॥

दोनों वाक्य ठीक हैं।

(७) इसी भ्रम को दूर करने के लिये इस मन्त्र का आरण्यक पाठ इस प्रकार है कि—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदुचन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः॥

(८) वेद मन्त्रों के शाखा आरण्यक आदि गत पाठान्तर मन्त्रों के व्याख्यान रूप हैं यह सब वैदिक जानते और मानते हैं। जैसे— 'सचिविदम्' का शाखा पाठ 'सदिकविदम्" इत्यादि।

(९) इस 'तदेवाग्नि' मन्त्र की अति विस्तृत मीमांसा हमने अपने ऋग्वेदमहाभाष्य में की है। वेदज्ञ विद्वानों को सप्रमाण विवेचन वहां देखने को मिलेगा।

(१०) मैं इस लेख को श्रीनगर कश्मीर में बैठ कर लिख रहा हूं जहां मेरे पास एक भी पुस्तक नहीं है केवल स्मृति से ही यह लेख लिखा है। आदरणीय सिद्धान्ती जी ने लेख लिखने को कहा था पर मैं जब धरती पर अपने वेदमन्दिर पुस्तकालय में था तब भूल गया अब यहां अन्तरिक्ष में बैठ कर विना पुस्तक के लेख लिख रहा हूं। अतः विद्वज्जन इस परिस्थिति को देखकर मेरा लेख पढ़ेंगे। ●

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में "प्रतिमा" शब्द पर ऋषि का लेख

(क) "न तस्य प्रतिमा अस्ति" यजु० ३२.३

भाष्यम्—नैव तस्य प्रतिमा अर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलसाधनं, परिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वाद परिमेयत्वान्निराकारत्वात्सर्वत्राभिव्यपकत्वाच्च ॥

भाषार्थ—उस परमेश्वर की प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब का सदृश अर्थात् जिसको तस्वीर कहते हैं तो किसी प्रकार नहीं, क्योंकि वह मूर्त्तिरहित, अनन्त, सोमा रहित और सबमें व्यापक है।

(ख) संत्वसस्य प्रतिमां या त्वा रात्र्युपास्महे ॥

अथर्व० काण्ड ३, सूक्त १०, मं० ३

भाष्यम्—विद्वांसः संवत्यरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे। अर्थाद् या संवत्सस्य त्राणि शतानि स्रष्ठिश्च रात्रयो भवन्ति यत् एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां प्रतिमासंज्ञेति ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग संवत्सर की जिस प्रतिमा क्षण आदि काल के विभाग करने वाली रात्रि को उपासना करते हैं हम लोग भी उसका सेवन करें। जो एक वर्ष को ३६० (तीन सौ साठ) रात्रि होती हैं इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है।

(ग) इसी प्रकार मनुस्मृति ८.४०३ श्लोक में प्रतिमा शब्द से रत्तिका, भाषा, सेटक आदि तोलन के साधन कहे गये हैं। यथा

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च सुलक्षितम् ॥

भाषार्थः—तुलमान अर्थात् तराजू वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनको परीक्षा राजा लोग करें ॥ इन ऋषि द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रतिमा शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं होता।

प्रभु की महिमा अपरंपार

[पं० देवेन्द्र नाथ शास्त्री एम० ए० १५ आर्य कुटीर, नरेला (दिल्ली)]

(यजुर्वेद ३२ वें अध्याय का ऋषि भाष्यानुसार छायानुवाद)

प्रभु की महिमा अपरंपार ॥
अग्नि वायु आदित्य वही है, शुक्र चन्द्रमा ब्रह्म वही है।
व्यापक प्रजापति की महिमा यह विराट् संसार ॥ प्रभु की·····।१।
पूर्ण ब्रह्म, वह काल का कर्ता, स्वयं प्रकाशक, धर्ता, हर्ता।
ऊपर, नीचे, दायें, बायें, उसका नहीं आकार ॥ प्रभु की···· ।२।
देह बन्धन से दूर प्रभु है, प्रतिमा कैसी ? वह तो विभु है।
धर्माचरण व नाम स्मरण से कर ले बेड़ा पार ॥ प्रभु की····।३।
दिशा-दिशा में, अन्तःकरण में, कल्प कल्प में और कण कण में।
शक्ति, गति उसकी अनन्त है, प्रकट सकल संसार ॥ प्रभु की····।४।
आदिपुरुष वह प्रजापति है, लोक पति, व कलापति है।
उसकी ज्योति जगमग जग में, वह ज्योति आधार ॥ प्रभु की····।५।
रवि, पृथिवी लोकों का धर्ता, सुखद, मोक्ष का धारण कर्ता।
व्यापक, सुखस्वरूप, प्रभुवर की भक्ति को ले धार ॥ प्रभु की····।६।
पृथिवी, जल, आकाश में व्यापक, सूर्य प्रकाशक, रक्षक, पालक।
कर उपासना उसी देव की जो जग का आधार ॥ प्रभु की····।७।
विश्व विधाता, प्रलयंकर है, ओत प्रोत वह, अणु, अणुतर है।
ज्ञान नेत्र से दर्शन कर ले, होगा बेड़ा पार ॥ प्रभु की·····।८।

वेद प्रवक्ता, ब्रह्मज्ञानी, सकल तत्व गुण, कर्म का मानी।
तीन काल और मुक्तिमर्म का उस जन को अधिकार ॥ प्रभु की·····।९।
मोक्ष सुखों का वह आधार है, लोकों जन्मों का जानकार है।
कर्म विधाता, पिता बन्धु वह, यह सच्चा सुविचार ॥ प्रभु की ··· ।१०।
सब प्राणी, सब लोक दिशाएं, ज्ञानी उसकी महिमा गाएं।
परिपूर्ण परमात्मा सब में, आत्मा का आधार ॥ प्रभु की·····।११।
द्यावा पृथिवी, लोक, लोकान्तर, द्रष्टा सबका वह है निरन्तर।
ध्यान करो उस परमानन्द का जो आनन्द आगार ॥ प्रभु की·····।१२।
जीवात्मा का प्रेम पात्र है, सेवक उसका प्राणिमात्र है।
भक्ति से उत्तम बुद्धि पावें, हो विवेक संचार ॥ प्रभु की·····।१३।
जो मेधा विद्वान् हैं पाते, पितर जनों पर ही बरसाते।
उस मेधा का दान हमें दो, हे मेधा भण्डार ॥ प्रभु की·····।१४।
वरुण, प्रजापति, इन्द्र, वायु हे ! मेधा धन दो और आयु हे !
सबके सुख उन्नति में समझूं निज उन्नति आधार ॥ प्रभु की·····।१५।
ब्राह्म तेज और क्षात्र सुबल हो, दोनों से मम राष्ट्र प्रबल हो।
उत्तम लक्ष्मीवान् हो सारा यह मानव परिवार ॥ प्रभु की·····।१६।

—
—
—

भावनात्मक एकता

(श्री बाबू पूर्णचन्द्र जी एडवोकेट पूर्व प्रधान सार्वदेशिक सभा)

यजुर्वेद ३२ वें अध्याय में १६ मन्त्र हैं। पहले मन्त्र में ईश्वर के अनेक गुणवाचक नाम बताये गये हैं दूसरे मन्त्र में ईश्वर को सारी दैविक शक्तियों का केन्द्र बताया गया है। तीसरे, में ईश्वर का स्वरूप निराकार बताया गया है यह मन्त्र मूर्तिपूजा के निषेध के लिये बड़ा महत्वपूर्ण है। चतुर्थ मन्त्र में ईश्वर को सब पदार्थों का द्रष्टा और प्रकाशक बताया है। पाँचवें में सर्वव्यापक। छठे में देश की दृष्टि से दिव्यलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी में व्यापक। इसी प्रकार शेष मन्त्रों में ईश्वर को सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक रक्षक, पोषक और संचालक बताया गया है। दो मन्त्र छठा और दसवाँ उपासना के आठों मन्त्रों में सम्मिलित हैं। चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ दैनिक यज्ञविधि में प्रयुक्त हुये हैं।

इस अध्याय के स्वाध्याय से हम यह कह सकते हैं कि संसार में बढ़ती हुई कलह और द्वेष परस्पर के प्रेम और सहयोग में परिवर्तित हो सकते हैं। इसी अध्याय के स्वाध्याय की झलक आर्यसमाज के दस नियमों में से प्रथम नियम में दृष्टिगोचर होती है जिसमें ईश्वर को सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उनका आदि मूल बताया गया है। गेय ज्ञान का आदि स्रोत है और गेय जगत् का मूल। इसी के साथ आर्यसमाज के छठं नियम में संसार के उपकार को आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य बताया गया है। इन नियमों में तीन शब्द महत्व के हैं ईश्वर—आदि मूल वेदों का अध्ययन परमधर्म और संसार का उपकार मुख्य उद्देश्य।

ओ३म्

आर्षज्ञान

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम् ।

सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥३१॥

× × ×

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम् ।

तस्मै सरस्वतीदुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥३२॥

ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ६७, मन्त्र ३१.३२

२० अगस्त १९७२ दूरभाष ३१०१५० रजि० नं० डी २०८

आर्यमर्यादा साप्ताहिक १५ हनुमान् रोड, नई दिल्ली-१

वेदस्तवन

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

—अथर्ववेद का० १९, सूक्त ७१, मन्त्र १ ॥

वेदकोश

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् । कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥

अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त ७२, मं० १ ॥

आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब के लिए जगदेवसिंह सिद्धान्ती शास्त्री द्वारा सैनी प्रिंटर्स पहाड़ी धीरज, देहली में मुद्रित और १५ हनुमान् रोड, नई देहली-१ से प्रकाशित ।